शैक्षिक संदर्भ

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
अंक-47, अगस्त-नवंबर 2003

संपादन:
राजेश खिंदरी
माधव केलकर
रश्मि पालीवाल
सी. एन. सुब्रह्मण्यम
दीपक वर्मा
गौतम पांडेय

वितरण:
महेश बसेड़िया

सहयोग:
बृजेश सिंह
अनिल पटेल
रामभरोस यादव
गजेन्द्र सिंह राठौर
राकेश खत्री

संपादन एवं वितरण:
एकलव्य, कोठी बाज़ार
होशंगाबाद – 461 001
फोन: 07574 – 253518
eklavyamp@mantrafreenet.com
eklavyah@sify.com

एक प्रति: 15 रुपए
वार्षिक सदस्यता (6 अंक) : 75 रुपए
आजीवन सदस्यता: व्यक्तिगत 1000 रुपए
संस्थागत 2000 रुपए
(ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

मुखपृष्ठ : प्रवासी अबाबील जो गर्मियों में ठंडे प्रदेशों में रहती है और सर्दियों में तुलनात्मक रूप से गर्म प्रदेशों में अपना समय गुज़ारती है। मुखपृष्ठ के फोटो में अबाबील यानी स्वैलो अपने घोंसले की तरफ उड़ान भर रही है। उड़ान में सहूलियत के लिए अपने पैरों को पूरी तरह से अपने पंखों के अंदर छुपा लिया है। यह फोटोग्राफ एरिक होस्किंग्स की किताब 'बर्ड्स' से लिया गया है। प्रकाशन पेलहैम बुक्स।

*इस अंक में चित्र निम्न किताबों से: **इलस्ट्रेटेड इन्सायक्लोपीडिया ऑफ डिस्कवरी एंड एक्सप्लोरेशन:** प्रकाशक: मार्शल केवेंडिश कॉर्पोरेशन। **द बुक ऑफ इंडियन बर्ड्स:** सलीम अली; प्रकाशक: बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसायटी। **मॉडर्न केमिस्ट्री:** निकोलस डी. ज़िमोपोलस, एच. क्लार्क, मेटकॉफ, जॉन इ. विलियम; प्रकाशक: होल्ट राइनहार्ट एंड विन्सटन ऑस्टिन। **द न्यू बुक ऑफ पापुलर साइंस;** प्रकाशक: ग्रोलियर इनकॉर्पोरेटेड,न्यूयॉर्क। **वर्ल्ड रिसोरसेस – मेज़:** रिचर्ड गिब्स; प्रकाशक: वेलेंड पब्लिशर्स लिमिटेड, इंगलैंड। **प्रिंसिपल्स ऑफ एनाटॉमी एंड फिज़ियोलॉजी:** गेरार्ड जे. टोरटोरा, सांद्रा रेनॉल्ड ग्रेबोव्स्की; प्रकाशक: हॉपर कॉलिंस कॉलेज पब्लिशर्स। **अपहोल्डिंग द कॉमन लाइफ – द कम्यूनिटी ऑफ मीरा बाई:** परिता मुक्ता; प्रकाशक: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। **बाराकिंस फेंटेसी वर्ल्ड:** वेलेरी मेडवेडेव; प्रकाशक: रादुगा प्रकाशन, मास्को।*

संदर्भ सदस्यता की दरें इस प्रकार हैं:

सदस्यता शुल्क	एक साल	दो साल	तीन साल
व्यक्तिगत/स्कूल	75 रुपए	140 रुपए	200 रुपए
अन्य संस्थाएं	150 रुपए	280 रुपए	350 रुपए

संदर्भ की आजीवन सदस्यता भी उपलब्ध है:

आजीवन सदस्यता	शुल्क
व्यक्तिगत	1000 रुपए
संस्थागत	2000 रुपए

संदर्भ का सदस्यता शुल्क आप मनीऑर्डर या बैंक ड्राफ्ट से भेज सकते हैं।
चेक भेजते समय 25 रुपए अतिरिक्त भेजिए।

संपर्क करें: **एकलव्य**
कोठी बाज़ार, होशंगाबाद
पिन: 461001
फोन: 07574-253518 ई मेल: eklavyah@sify.com

विज्ञान क्या है 13

कई मेधावी माने जाने वाले छात्रों को विज्ञान इस तरह रटा हुआ होता है कि वे किताब खोले बिना ही पूरी किताब सुना सकते हैं। वैज्ञानिक शब्दावली, परिभाषाएं .... सब कुछ कंठस्थ। किन्तु इस सबके बावजूद उन्हें विज्ञान में कुछ नहीं आता। न तो उनमें अवलोकन क्षमता होती है, ना ही अपने आसपास बिखरे विज्ञान के सिद्धांतों की समझ। ढेरों तथ्य रटे होने के बावजूद वे साधारण सवालों के जवाब नहीं दे पाते। शायद विज्ञान पाठ्य-पुस्तकों में नहीं होता और सूत्र-संकेतों में भी नहीं है। किसी भी अवधारणा पर सवाल करना, जवाब खोजने की कोशिश करना और अपने अनुभव को पुख्ता करना ही विज्ञान है। पुरानी पीढ़ी ने भी पहले से चली आ रही अवधारणाओं पर सवाल किए थे, अपने अनुभवों का दायरा बढ़ाया था और फिर नए नज़रिए व नए विचार दिए। शायद विज्ञान इसी तरह आगे बढ़ता है। विज्ञान के बारे में फाइनमेन के विचारों को पढ़िए।

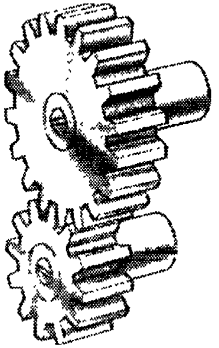

पारस पत्थर से कीमियागरी तक 40

इंसान का सोने के लिए दीवानापन जगजाहिर है। दुनिया की कई सभ्यताओं में यह मान्यता थी कि कहीं कोई पारस पत्थर पाया जाता है जिसे लोहे से छुलाया जाए तो लोहा सोने में तब्दील हो जाता है। प्राचीन दार्शनिकों का विचार था कि दुनिया की हरेक वस्तु पांच मूल तत्वों से मिलकर बनी है। बस फर्क यह है कि हरेक वस्तु में इन पांच तत्वों की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। आगे यह विचार आया कि किसी धातु में मूल तत्वों की मात्रा में बदलाव करके उससे भी सोना बनाया जा सकता है।
यहां से नींव पड़ी कीमियागरी की। कीमियागर अपनी कोशिशों में किस हद तक कामयाब रहे? कीमियागरी से आधुनिक रसायन विज्ञान तक का सफर भी कम रोचक नहीं है।

किसने गाया मीरा . . . 61

पिछले दो-तीन सौ वर्षों के दौरान मीरा को लेकर जो कुछ लिखा गया उससे मीरा की – उच्च कुलीन, कृष्ण-भक्त औरत की – छवि ही उभरकर सामने आती रही है। लेकिन क्या मीरा के व्यक्तित्व के अन्य पहलू यहीं तक सीमित थे?

आज भी राजस्थान-गुजरात के दलितों, अछूतों में मीरा-भक्ति जीवित है। उनके भजनों और उनकी बातों को सुनकर ऐसा नहीं लगता कि वे सिर्फ कृष्ण-भक्त मीरा के प्रति सम्मान रखते हैं। इन इलाकों में आज भी उच्च वर्ग द्वारा किए जाने वाले जुल्म और भेदभाव के खिलाफ दमित, शोषित और हीनवर्ग अपना प्रतिरोध दर्शाने के लिए 'मीरा' को एक सशक्त प्रतीक मानते हैं।

मीरा के व्यक्तित्व के दूसरे पहलुओं को जानने के लिए कई शोधकार्य हुए हैं। ऐसा ही एक शोध परिता मुक्ता ने भी किया है। जिससे इस बात के संकेत मिलते हैं कि मीरा ने महल का त्याग करने के बाद अपना एक समुदाय निर्मित किया और खुद उस समुदाय का एक हिस्सा बनकर जीती रही।

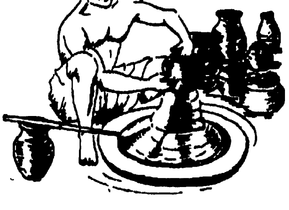

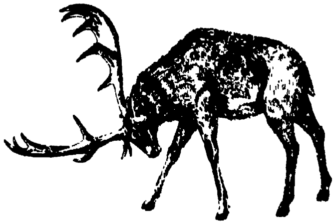

शैक्षिक संदर्भ

अंक: 47
अगस्त-नवंबर 2003

इस अंक में

आपने लिखा . . . 4

कुछ प्रवासी पक्षी . . . 5
के. आर. शर्मा

विज्ञान क्या है? . . . 13
रिचर्ड पी. फाइनमेन

लिक्विड क्रिस्टल . . . 31
सुनील कुमार

पारस पत्थर से . . . 40
सवालीराम

वृद्धि . . . 48
जे. बी. एस. हाल्डेन

मक्के के फूल . . . 53
कमलकिशोर कुम्भकार

ज़रा सिर खुजलाइए . . . 58

किसने गाया मीरा को? 61
परिता मुक्ता

विलियम बिल्ला . . . 81
इयान मेक इवान

जब मौत भी शर्मा जाए . . . 96
महेश बसेड़िया

आपने लिखा

आम का न होना तो बड़ा अखरा, लेकिन ...

शैक्षिक संदर्भ अंक 46 के संदर्भ में मैं कुछ कहना चाहता हूं। लेख 'कहां गए वो आम' में आपको एन.सी.इ.आर.टी. द्वारा प्रकाशित पाठ्यपुस्तक में भारतीय संस्कृति के फलों का न होना तो बड़ा अखरा, लेकिन स्वयं शिक्षक द्वारा अंडों का गुणगान उल्लेखनीय लगा। (देखिए लेख 'कक्षा में बच्चों से बातचीत', पृष्ठ क्रमांक 10)

आखिर शाकाहारी संस्कृति; विशेषकर उत्तर भारत के हिन्दी भाषी विद्यालयों में से कितने विद्यालयों के सभी बच्चे अंडे खाते हैं, कि आपने इतनी सहजता से छाप दिया – "तुम लोगों ने अंडा खाया होगा लेकिन हमें तो कभी नहीं खिलाया ...."

मुझे आपके इस दृष्टिकोण से दुख, पीड़ा और क्षोभ पहुंचा है लेकिन मेरे लिए संतोष की बात है कि अंक 47 मेरा अंतिम अंक है। आप मेरे पत्र का उत्तर देंगे या इसे पत्रिका में प्रकाशित कर स्पष्टीकरण देंगे इसकी न मुझे अपेक्षा है, ना आशा।

अजित जैन 'जलज'
ककरवाहा, टीकमगढ़, म.प्र.

अंक 45 पढ़ा। यह अंक भी पूर्ववर्ती अंकों की तरह उपयोगी लगा। दो मुंहा सांप के बारे में रोचक जानकारी मिली। हालांकि मैं अभी तक दो मुंहा सांपों के इस तथ्य से अपरिचित था कि इनमें एक मुंह ही होता है।

विज्ञान की किताबों में दी गई जानकारियां व्यवहारिक ज्ञान से काफी हटकर होती हैं, जबकि ज़रूरत इस बात की है कि विज्ञान को जितना व्यवहारिक बनाया जाए उतना ही शिक्षक और विद्यार्थियों को लाभ होगा। संदर्भ ने इसकी भरपाई की भरपूर कोशिश की है। फिर भी अभी बहुत से बुनियादी बातें छूट जाती हैं जिन्हें संदर्भ में समाहित करना चाहिए। जैसे: घरों में प्रयोग होने वाले यंत्रों और रासायनिक पदार्थों से जुड़े तथ्यों और सिद्धांतों को सहज तरीके से प्रस्तुत कर इस कमी को पूरा किया जा सकता है। इस तरह की जानकारियों को समाहित करने से यह पत्रिका विज्ञान विषय छोड़ चुके विद्यार्थियों के लिए रामबाण सिद्ध होगी और सभी के लिए अत्यंत ज़रूरी पत्रिका बन सकेगी।

शिवचंद प्रजापति
देवरिया, उत्तर प्रदेश

कुछ प्रवासी पक्षी

के. आर. शर्मा

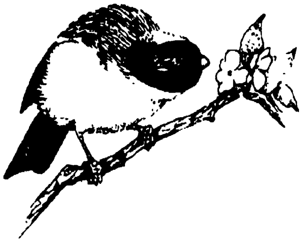

जब भी पक्षियों का ज़िक्र होता है तो प्रवासी पक्षियों का मुद्दा प्रमुखता उठता है। पक्षियों की चर्चा में प्रवासी का मसला काफी अहमियत रखता है। ठंड आते ही प्रवासी पक्षियों के बारे में खबरें देखने पढ़ने को मिलती हैं। आमतौर पर जितनी भी खबरें आती हैं उनसे अक्सर ऐसा लगता है कि प्रवासी पक्षी कुछ खास स्थानों पर ही आते हैं। यदि आप प्रवासी पक्षियों को देखने के लिए भरतपुर अभ्यारण्य नहीं जा पा रहे हों, तो भी निराश मत होइए क्योंकि प्रवासी पक्षी सिर्फ अभ्यारण्यों को ही अपना बसेरा नहीं बनाते। सच तो यह है कि आप अपने आसपास या किसी दूरदराज के गांव में भी प्रवासी पक्षियों के दर्शन कर सकते हैं। बस ज़रूरत है उन्हें पहचानने का प्रयास करने की। यहां ऐसे कुछ प्रवासी पक्षियों के बारे में बताया जा रहा है, जो इन दिनों आसानी से दिखाई दे जाते हैं।

खंजन (White Wagtail)

यह पक्षी घरेलू चिड़िया से कद-काठी में थोड़ा-सा बड़ा होता है। दशहरे के बाद खंजन अपने यहां के मैदानी इलाकों में दिखाई देने शुरू हो जाते हैं। बरसात के बाद शरद ऋतु का पैगाम लेकर आते हैं ये परिंदे।

खंजन को आप सितंबर से मार्च और कभी-कभी अप्रैल तक अपने यहां देख सकते हैं। खंजन की पीठ और पूंछ का ऊपरी हिस्सा काला, कंठ और छाती वाला हिस्सा सफेद होता है। जब यह मैदान में चल रहा हो तो इसकी पूंछ ऊपर-नीचे हिलती रहती है। अंग्रेज़ी नाम 'वेगटेल' के अनुसार अपनी पूंछ को तेज़ी से ऊपर-नीचे हिलाते रहने के कारण, काले-सफेद रंग का यह पक्षी अलग ही पहचान में आ जाएगा।

वास्तव में यह पंछी आपको घने जंगलों में दिखाई नहीं देगा। इसको आप नदी, तालाब या पोखरों के किनारे या खुले मैदानी इलाकों में और ज़मीन पर आसानी से देख सकते हैं। एक बात और, इस पक्षी को देखने के लिए कोई खास प्रयास भी नहीं करना पड़ता क्योंकि ये हमारे आसपास ही रहते हैं। जैसे, कारखानों या शहर के मल-जल से बने डबरों व नालों के आसपास की हरियाली में खंजन को कीड़े-मकोड़े ढूंढते हुए आसानी से देखा जा सकता है।

हालांकि खंजन से मिलता-जुलता एक पक्षी बारहों मास अपने यहां

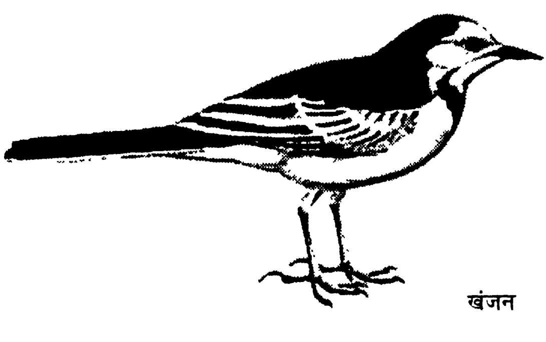

खंजन

पर निवास करता है। यह नदी-नालों के किनारे रहता है। इसका नाम है धोबिन और अंग्रेज़ी में यह Pied Wagtail के नाम से जाना जाता है। वैसे खंजन को भी धोबिन कहा जाता है। पाइड वेगटेल प्रवास नहीं करता। इसका सिर थोड़े बड़े आकार का होता है। और इसका सिर पूरा काला होता है, केवल भौंहें सफेद होती हैं।

खंजन के साथ ही कुछ इसी तरह के लेकिन फर्क रंग वाले पक्षी भी आते हैं। खंजन से मिलता-जुलता एक पक्षी है जिसका सिर पीले रंग का होता है, इसे पीला खंजन कहा जाता है। हालांकि जब यह हमारे इलाके में प्रवास पर आता है तब इसमें पीला रंग नहीं दिखाई देता। एक और पक्षी को धूसर खंजन के नाम से जाना जाता है क्योंकि इसका शरीर धूसर यानी ग्रे रंग का होता है।

खंजन अपने प्रवास में कितनी नियमितता बरतते हैं इसे समझने के लिए कुछ खंजन पक्षियों की टांगों में छल्ला पहना कर नियमित अवलोकन किए गए। आमतौर पर पक्षियों के प्रवास संबंधी अध्ययन और अवलोकन के लिए उनकी टांग में छल्ला पहना दिया जाता है। और उस छल्ले पर, छल्ला पहनाने वाले का नाम-पता आदि ब्यौरा लिख दिया जाता है। इन पक्षियों को कहीं भी देखे जाने पर पक्षी -अवलोकक या पक्षी -प्रेमी छल्ला पहनाने वाले को खबर करता है कि उसने अमुक-अमुक पक्षी को किस समय, कहां देखा है।

खैर, मुंबई में एक खंजन पक्षी की टांग में छल्ला पहनाकर किए गए अवलोकनों से पता चला कि वो लगातार पांच सालों तक हिमालय में प्रजनन करता था और हर साल मुंबई के एक बगीचे में सितंबर महीने की एक खास तारीख को पहुंचता था। पक्षी प्रवास संबंधी अन्य अध्ययन भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि पक्षियों में प्रवास का मामला काफी नियमित होता है। ये एक ही स्थान पर और नियत समय पर पहुंचते हैं।

थिरथिरा (Red Start)

हो सकता है कि आप खंजन को देखने की कोशिश कर रहे हों और पूंछ को कंपकंपाता हुआ, घरेलू चिड़िया के आकार का पक्षी दिखाई दे जाए। नाम के अनुसार ये अपनी पूंछ को कंपकंपाते रहता है। इसीलिए इसका नाम थिरथिरा पड़ा। इनमें नर और मादा एक समान नहीं होते।

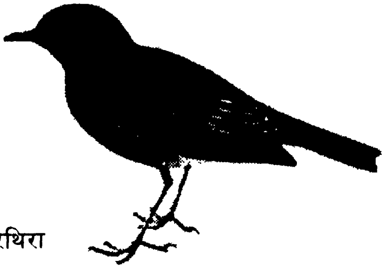

थिरथिरा

नर थिरथिरा – इसकी पहचान करना आसान है। ऊपर से काला भूरा होता है। पेट और पूंछ नारंगी-लाल होते हैं। जब एक ही स्थान पर खड़ा हो या चल रहा हो तब पूंछ को लगातार कंपकंपाते रहता है।

मादा थिरथिरा – मादा थिरथिरा भूरी-पीली होती है। छाती और पूंछ का रंग नारंगी-लाल होता है; पर यह नारंगी-लाल रंग कम चमक वाला होता है।

ये पक्षी शीतऋतु में हिमालय से चलकर भारत के पठारी हिस्सों में आते हैं। शीतऋतु बिताने के बाद प्रजनन के लिए ये वापस हिमालय के इलाकों में लौट जाते हैं। हिमालय में ये 2400 मीटर से 5200 मीटर की ऊंचाई पर देखे जाते हैं।

थिरथिरा को हम अपने आसपास के बाग-बगीचों में, झाड़ियों में, पेड़ों की नीची डालियों पर, खलिहानों या घर की मुंडेर पर आसानी से देख सकते हैं।

चुपका (Wood Sandpiper)

नदी, तालाब या पोखर के किनारों पर जहां पर थोड़ा कीचड़ हो वहां अनेक पक्षियों को देखा जा सकता है। मसलन सफेद बगुले, गजपांव, टिटहरी वगैरह। इन्हीं पक्षियों के झुंड में आपको चुपका भी दिखाई दे सकता है।

यह बटेर के समान होता है। ऊपर से राख के रंग का, नीचे से हल्की सफेद चित्तियां होती हैं। इसकी गर्दन हल्की पीली-भूरी होती है। यह

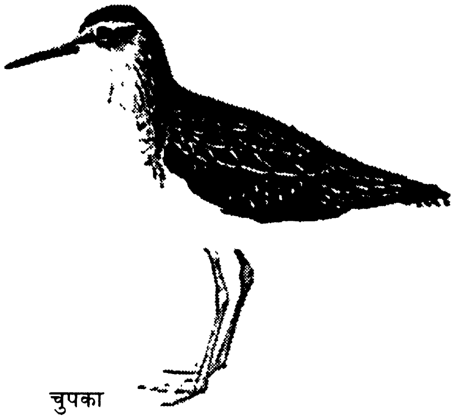

चुपका

काफी शर्मिला पक्षी है और अकेले रहना पसंद करता है। रेल या बस में सफर करते समय आप दाएं-बाएं नज़र दौड़ाइए; बरसाती डबरों के आसपास यह कीड़ों को खाने में मशगूल दिखेगा।

सामान्य बाटन (कॉमन सेंड पाइपर) – यह भी बटेर के आकार का होता है। यह पक्षी चुपचाप ही कीड़े -मकोड़े चुगता रहता है। पीठ का रंग धूसर, जैतुनी-भूरा और छाती वाला हिस्सा सफेद होता है। चुपका और सामान्य बाटन में फर्क थोड़ा मुश्किल हो जाता है, इसलिए भी क्योंकि इन दोनों का रहवास लगभग समान होता है।

यह बरसात के मौसम में यानी अगस्त में ही भारत के मैदानी भागों में आ जाता है। और मई-जून के महिने में प्रजनन के लिए नम, घासवाले, इलाकों की ओर वापस लौटता है।

रोज़ी पैस्टर (Rosy Pastor/ Rose coloured Starling)

मैना के आकार से काफी मिलती-जुलती यह चिड़िया शीतऋतु से पहले ही प्रवास करती हुई जुलाई-अगस्त में आ जाती है। इसका रंग हल्का गुलाबी होता है और सिर, गर्दन, ऊपरी वक्ष, पंख तथा पूंछ चमकीली काली होती है। इसे गुलाबी मैना भी कहा जाता है। नर और मादा एक समान होते हैं। रोज़ी ज़्यादातर बरगद, पीपल, गूलर या खेतों के आसपास के पेड़ों पर देखी जाती है। आमतौर पर यह खेतों में खड़ी

फसलों को नुकसान पहुंचाती है। यह झुंड में रहना पसंद करती है। कभी-कभी तो इसके सौ या इससे भी बड़े झुंड देखे गए हैं।

रोज़ी पैस्टर अप्रैल में यहां से विदा ले लेती है, और अपने मूल निवास यूरोप व पश्चिम एशिया में चली जाती है। रोज़ी पैस्टर की एक दिलचस्प बात है कि भोजन के हिसाब से उसकी आंतों की लंबाई में घट-बढ़ होती है। रोज़ी पैस्टर का भोजन अपने मूल स्थान यानी कि पश्चिम एशिया और यूरोप में कीट पतंगे आदि होता है। रोज़ी अपने प्रवास के दौरान भारत में जाड़ा बिताने आती है, तब यहां भोजन के लिए शाकाहार उपलब्ध होता है।

रोज़ी पैस्टर के खान-पान संबंधी अध्ययनों से मालूम हुआ कि भोजन की आदत में बदलाव के साथ ही इसकी आंत की लंबाई में भी बदलाव होते हैं। जब यह बीजों को अपना आहार बनाती है तब इसकी आंत की लंबाई में बढ़ोतरी हो जाती है। और जब इसका आहार कीट-पतंगें होता है तब इसकी आंत की लंबाई कम हो जाती है।

रोज़ी पैस्टर

अबाबील (Swallow)

अबाबील को तो आप जानते ही होंगे। ठंड के दिनों में सुबह के समय कुछ नीले-सफेद रंग के पक्षी देखने को मिल जाएंगे। सुबह की गुनगुनी धूप सेंकते हुए दो-तीन तरह के, थोड़े अंतर लिए, अबाबील देखने को मिलेंगे। इनमें से एक अबाबील है जिसकी पूंछ में से दो लंबे तार जैसे पंख निकले होते हैं। यह प्रवास नहीं करती। इसका नाम है वायर टैल्ड स्वैलो।

हमारे यहां प्रवास करने आने वाली अबाबील के पंख नीला-बैंगनी रंग लिए होते हैं और इनके सिर और कंठ लाल-भूरे रंग के होते हैं। इनकी छाती मटमैली सफेद रंग की होती है। इन्हें कॉमन स्वैलो के नाम से जाना जाता है।

कॉमन स्वैलो हिमालय में अप्रैल से जुलाई तक प्रजनन करता है। यदि आप उन दिनों कभी हिमालय की सैर पर जाएं और नैनीताल,

प्रवासी अबाबील

अबाबील जो प्रवास नहीं करता

कौसानी या रानीखेत में घूम रहे हों तो सुबह या शाम को शहर में ही इनको बड़ी तेज़ी से उड़ते हुए देखा जा सकता है। ऐसा ही एक अवलोकन हमने रानीखेत में किया था। मैं अपने एक पक्षी प्रेमी मित्र के साथ रानीखेत में दवाई की दुकान में खड़ा था। कुछ अबाबील तेज़ी से उस दुकान में से आ-जा रहे थे। जिज्ञासावश मैंने दुकानदार से पूछा तो उसने बताया कि इन पक्षियों ने दुकान के अंदर घोंसला बना रखा है। ये बाहर से अपने बच्चों के लिए भोजन लेकर आते हैं। हमने देखा कि अबाबील अपने मुंह में कुछ कीट-पतंगे दबाकर ला रहे थे। थोड़ी देर बाद पता चला कि ये तो वही पंछी हैं जो ठंड के दिनों में अपेक्षाकृत गर्म स्थानों पर चले जाते हैं।

अबाबील अपना घोंसला मिट्टी से बनाता है। मिट्टी को ये अपनी चोंच में भरकर लाते हैं, और उसमें अपनी लार मिलाते हैं। यह देखा गया है कि प्रजनन काल में इनमें लार ग्रंथियां बड़ी हो जाती हैं। ज़ाहिर है कि इस दौरान इनको घोंसला बनाने के लिए मिट्टी में लार काफी मात्रा में जो मिलानी पड़ती है। अंडों और बच्चों की परवरिश नर और मादा दोनों मिलकर करते हैं।

के. आर. शर्मा: विद्याभवन सोसायटी, उदयपुर में कार्यरत।
चित्रकार: कार्ल डी सिल्वा।

विज्ञान क्या है?

रिचर्ड पी. फाइनमेन

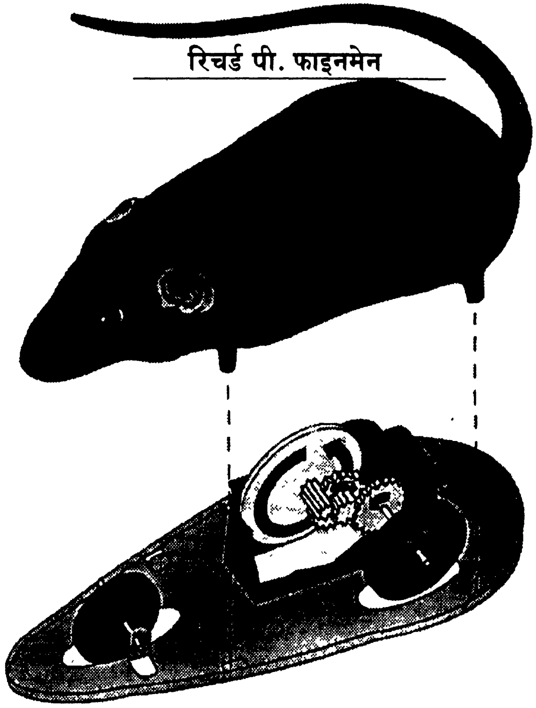

''हर उस बात पर संदेह करना जो बात अतीत से बह कर हम तक पहुंची है – एक अनुभूत 'सत्य' का जामा पहने, और फिर ठेठ शुरुआत से अपने ही अनुभव के बूते उस 'सत्य' को परखना। बजाए इसके कि पहले के अनुभव पर ज्यों-का-त्यों विश्वास कर लिया जाए। और यही विज्ञान है।''

पढ़िए फाइनमेन विज्ञान के बारे में क्या सोचते हैं।

शुक्रिया श्रीमान डी'रोज़ कि मुझे आप सब विज्ञान शिक्षकों से मिलने का मौका दिया। मैं भी विज्ञान पढ़ाता हूं। मुझे केवल स्नातक छात्रों को भौतिक विज्ञान पढ़ाने का ही अनुभव है, और इसी आधार पर जानता हूं कि मैं नहीं जानता कि पढ़ाया कैसे जाना चाहिए?

और मुझे यकीन है कि आप सब महानुभाव – शिक्षक बिरादरी की सबसे निचली पायदान पर काम कर रहे असल शिक्षक, शिक्षकों के शिक्षक, पाठ्यक्रम विशेषज्ञ – भी अच्छे से जानते हैं कि आप भी इससे उतने ही अनभिज्ञ हैं। वर्ना आप इस सम्मेलन में आते ही क्यों?

'विज्ञान क्या है?' यह विषय मैंने नहीं चुना है। यह तो डी'रोज़ साहब का विषय था। लेकिन मैं कहना चाहूंगा कि 'विज्ञान क्या है?' किसी भी तरह से 'विज्ञान कैसे पढ़ाया जाए?' का समानार्थी नहीं बनता। और दो कारणों से मैं आपका ध्यान इस पर खींचना चाहूंगा। अव्वल तो इस व्याख्यान की मेरी तैयारी के तरीके से ऐसा लग सकता है गोया मैं आपको बताने की कोशिश कर रहा हूं कि विज्ञान पढ़ाया कैसे जाए। नहीं-नहीं, बिल्कुल नहीं। क्योंकि मैं छोटे बच्चों के बारे में कुछ नहीं जानता। मैं भी एक बच्चे का पिता हूं – और इसलिए दावे के साथ कह सकता हूं कि मैं नहीं जानता। और दूसरी वजह है कि मुझे लगता है आप में से अधिकांश को आत्मविश्वास की कुछ कमी का सा एहसास है (नहीं तो इतनी बातें, इतने पर्चे, इतने विशेषज्ञ फिर भला क्यों!)। किसी-न-किसी तरह आप लोगों को हमेशा भाषण पिलाए जाते रहे हैं कि कैसे चीज़ें बहुत अच्छे-से नहीं हो रही हैं और आप लोगों को पढ़ाने के बेहतर तरीके सीखने चाहिए। मैं आपको डांटने-फटकारने वाला नहीं, और न ही आपके द्वारा अपनाई जा रही विधियों में शर्तिया सुधार के तरीके सुझाने वाला हूं। नहीं भई, सच्चाई तो यह है कि 'केलटेक' में हमारे पास बहुत बढ़िया बच्चे आ रहे हैं। समय के साथ-साथ हमने उन्हें बेहतर, और बेहतर भी होते पाया है। यह कैसे हुआ, पता नहीं। शायद आप भी नहीं जानते हैं। मैं व्यवस्था में दखलअंदाज़ी नहीं करना चाहता, वह बहुत अच्छी है।

विज्ञान क्या है? अगर आप इसे पढ़ाते हैं तो आप लोगों को यह पता होना ही चाहिए। यह तो सामान्य ज्ञान है। मैं भला क्या कह सकता हूं?

अगर आप नहीं जानते, तो बता दूं कि हरेक पाठ्यपुस्तक का शिक्षक-संस्करण इस विषय पर विस्तृत चर्चा करता है। परन्तु विज्ञान वह नहीं जिसे दार्शनिकों ने विज्ञान कह दिया और वह तो कतई नहीं जो शिक्षक-संस्करण कहते हैं। दरअसल, मेरे आज के व्याख्यान का विषय यही सवाल है कि विज्ञान आखिर है क्या बला!

इस व्याख्यान के लिए मंजूरी देने के कुछ समय बाद ही इस सवाल के बारे में सोचते हुए मेरे मन में एक नन्हीं कविता कुलबुला उठी –

एक कनखजूरा था बड़ा प्रसन्न
जब तक न पूछा एक मेंढक ने यह प्रश्न
कौन-सी टांग आती है तुम्हारी किस टांग के बाद
और पहुंचे उसके संदेह इस ऊंचाई तक
कि वह बेकल सा जा गिरा एक खड्ड के भीतर
नहीं जानता कैसे जाता भाग

प्रेस रिपोटर्रो की ओर से ढेरों प्रयास हुए कि इस व्याख्यान की एक-ठो 'झलक' मिल जाए। परन्तु वो तो संभव ही नहीं था क्योंकि अभी कुछ समय पहले ही तो मैंने इसे तैयार किया है।

विषय की जटिलता और दार्शनिक व्याख्या के प्रति मेरी अरुचि को देखते हुए मैं एक अनूठा तरीका अपना रहा हूं। मैं आपको बस इतना ही बताऊंगा कि मैंने कैसे जाना कि विज्ञान क्या है। कुछ-कुछ बचकाना सा है यह तरीका। मैंने उसे बचपन में सीखा। वह शुरू से ही मेरे खून में था। मैं बताऊंगा कि यह सब मेरे भीतर कैसे घर कर गया। गोया, मैं आपको बताने जा रहा होऊं कि पढ़ाया कैसे जाए। नहीं, यह मेरी मंशा नहीं। विज्ञान क्या है, यह मैं आपको अपने अनुभव से बताऊंगा कि मैंने कैसे सीखा कि विज्ञान क्या है।

●●●

यह मेरे पिता की करनी है। मैं जब मां के पेट में था, मेरे पिता ने कहा, अगर लड़का हुआ तो वह वैज्ञानिक बनेगा।* जाने वे ऐसा कैसे कह पाए? उन्होंने मुझे कभी न कहा कि मैं वैज्ञानिक बनूं। वह खुद भी

फाइनमेन की छोटी बहन जोआन ने भी भौतिक शास्त्र में पीएच.डी. की है; जबकि उनके पिता की शायद यह धारणा थी कि केवल लड़के ही वैज्ञानिक बन सकते हैं।

वैज्ञानिक न थे। वे एक कम्पनी के सेल्स प्रबंधक थे। लेकिन वे विज्ञान पढ़ते थे और उसे पसंद करते थे।

जब मैं बहुत छोटा था, मेरे पिता रात के खाने के बाद मेरे साथ एक खेल खेलते थे। वे कहीं से बहुत सारी पुरानी आयताकार टाइल ले आए थे। हम उन्हें एक सिरे पर, एक के पास एक जमा देते। इसके बाद एक सिरे को धकाते तो सब-की-सब झटके-से लुढ़क जातीं। मुझे खूब मज़ा आता।

इसके बाद खेल कुछ और सुधरा। टाइल अलग-अलग रंगों की थीं। मेरा काम था एक सफेद, दो नीली, एक सफेद, दो नीली..... के क्रम में उन्हें जमाना। मन भले ही नीली टाइल रखने को करता पर उसे सफेद ही होना पड़ता। आप उसमें छिपी तरकीब को पहचान चुके होंगे, पहले खेल के मज़े लेने देना, फिर धीरे से शैक्षिक महत्व के पहलू उसमें जोड़ देना!

खैर, मेरी मां जो कहीं ज़्यादा संवेदनशील महिला हैं, मेरे पिता के इस घुसपैठिया अंदाज़ को ताड़ गईं और बोलीं, "अगर वो बेचारा नीली

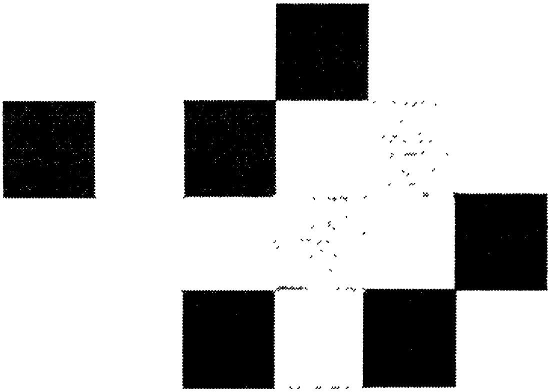

टाइल रखना चाहता है तो उसे रखने दो न।" पिता बोले, "नहीं, मै चाहता हूं कि उसका ध्यान पैटर्न की ओर जाए। इस शुरुआती स्तर पर मैं यही एकमात्र चीज़ कर सकता हूं जो गणित से जुड़ी है।" अगरचे मेरा आख्यान 'गणित क्या है?' रहा होता तो अब तक जवाब दिया जा चुका होता। गणित का मतलब ही है तरतीब यानी पैटर्न ढूंढना।

मैं इस बात का एक प्रमाण और देना चाहूंगा कि गणित केवल पैटर्न ही पैटर्न है। जिन दिनों कॉर्नेल में पढ़ रहा था उन दिनों मैं छात्रों के साथ कैंटीन में बैठता, कुछ खाता, लेकिन कान औरों की बातचीत सुनने में लगे रहते – उस तमाम शोर-शराबे में कोई एक भी समझदारी भरा शब्द पाने की कोशिश में। आप लोग मेरे अचरज का अंदाज़ा लगा सकते हैं जब मैंने औरों की बातचीत सुनते हुए अपने हिसाब से एक ज़बरदस्त चीज़ खोज निकाली।

मैंने दो लड़कियों के बीच हो रही बातचीत सुनी। एक दूसरी को बता रही थी कि अगर तुम्हें सीधी रेखा खींचनी है तो जितनी दूरी ऊपर की ओर बढ़ो उतनी ही दूरी दाहिनी ओर भी – बस सीधी रेखा खिंच जाएगी। विश्लेषक रेखागणित का एक गहरा सिद्धांत है यह। बातचीत चलती रही और मैं था अवाक!

वह जारी रही, "अब मान लो दूसरी ओर से एक रेखा और चली आ रही है और आप देखना चाहते हैं कि कहां आकर वे दोनों एक-दूसरे को काटेंगी?" ऐसे में अगर एक रेखा ऊर्ध्वाधर दिशा में अपने प्रत्येक एक कदम के मुकाबले दाहिनी दिशा में दो कदम बढ़ती है, और दूसरी वाली लाईन ऊर्ध्वाधर दिशा में अपने प्रत्येक एक कदम के बरक्स दाहिनी दिशा में तीन कदम आगे बढ़ती है, और वे दोनों एक-दूसरे से कोई 20 कदम की दूरी पर आगे को बढ़ना शुरू करती हैं..... वगैरह.....वगैरह। और मैं भौंचक्का! अंततः वे जान ही गईं कि दोनों रेखाओं का प्रतिच्छेद बिंदु कहां आएगा। दरअसल, पहली वाली दूसरी को मौजे बुनना सिखा रही थी।

मेरे पिता ने मुझे एक चीज़ और बताई – चूंकि मसला बात से ज़्यादा जज़्बात से जुड़ा है चुनांचे मेरा किस्सा इतना मुकम्मिल न बने शायद। बहरहाल पिताजी ने यह बताया कि हर वृत्त की, चाहे वह किसी भी आकार का क्यों न हो, परिधि व उसके व्यास का अनुपात हमेशा समान

रहता है। हालांकि बात मुझे बहुत ज़्यादा अस्पष्ट न लगी। लेकिन इस अनुपात की कुछ अद्‌भुत विशिष्टता थी। वह एक अनूठी संख्या थी, पाई (π) । अजीब तिलिस्मी नम्बर था यह, जिसे मैं अपने लड़कपन में भेद न पाया, परन्तु हर तरफ मैं π ही π ढूंढता....।

यह विचार कि इस संख्या में एक रहस्य, एक रोमांच है, यही मेरे लिए अहम था। बहुत बाद में, प्रयोगशाला में प्रयोग करते वक्त (मेरे अपने घर की प्रयोगशाला में), दरअसल उठापटक करते वक्त – हां, मैंने कभी प्रयोग नहीं किए, बस इधर-उधर हाथ-पैर पटके, कुछेक उपकरण बनाए। धीमे-धीमे किताबों और मेन्युअल्स के ज़रिए मैंने जाना कि विद्युत पर लागू होने वाले कुछ सूत्र हैं जो करंट व प्रतिरोध इत्यादि का परस्पर संबंध दर्शाते हैं। एक दिन ऐसे ही, किसी किताब में सूत्र ढूंढते वक्त मैंने एक सूत्र खोजा – एक अनुनादी परिपथ की आवृत्ति का सूत्र ($2\pi \sqrt{LC}$), जहां L परिपथ का प्रेरण और C उसकी विद्युतधारिता यानी केपेसिटेन्स। और इस सूत्र में मौजूद था π, पर वृत्त नदारद! आप जनाब हंस रहे हैं पर मैं उस वक्त बहुत गंभीर था। मेरी समझ के अनुसार π तो वृत्त से जुड़ी एक चीज़ रही, और आलम यह कि यहां π एक इलेक्ट्रिक सर्किट के सूत्र में मौजूद दिख रहा था। आप जो हंस रहे हैं, जानते हैं कि बिना वृत इस सूत्र में π कहां से टपक पड़ा?

मुझे तो खोजना होगा उसे। सोचना होगा उसके बारे में। और उस सबके बाद मुझे अचानक समझ में आया कि विद्युत परिपथ में कुंडलियां वृत्ताकार होती हैं। ज़रूर इनकी वजह से π मौजूद है इस सूत्र में। कोई छह माह बाद मुझे एक और किताब मिली जिसमें मुझे वृत्ताकार और आयताकार कुंडलियों के प्रेरण संबंधी सूत्र मिले। इन दोनों सूत्रों में π मौजूद था। सोच और खोज का सफर फिर शुरू हुआ और तब मैंने जाना कि इन सूत्रों में 'पाई' वृत्ताकार कुंडलियों की वजह से नहीं उपजी थी। आज मैं इसे बेहतर ढंग से समझ सकता हूं, लेकिन अंदर... कहीं अपने भीतर.... मैं आज तक नहीं जान पाया कि वो वृत कहां है, और वो 'पाई' कहां से आई....।

क्या मैं अपनी इस कहानी के बीच कोई उपकथा ला सकता हूं? शब्दों और परिभाषाओं पर मैं कुछ कहना चाहूंगा। मेरे ख्याल से शब्द सीखना

ज़रूरी है, परन्तु वो विज्ञान नहीं है। क्योंकि वो विज्ञान नहीं है, इसका मतलब यह नहीं कि शब्द सिखाए ही न जाएं। हम इस बारे में बात नहीं कर रहे कि क्या सिखाया जाए, हम चर्चा कर रहे हैं कि विज्ञान क्या है? सेंटीग्रेड को फेरनहाईट में कैसे बदलें, यह जानना विज्ञान नहीं है। यह ज़रूरी तो है लेकिन यह विज्ञान नहीं। वैसे ही जैसे कला पर चर्चा करते वक्त आप यह नहीं कहेंगे कि कला से आशय इस तथ्य के ज्ञान से है कि 3-बी पेंसिल, 2-एच पेंसिल के मुकाबले सॉफ्ट होती है। इसका मतलब यह नहीं है कि एक कला-शिक्षक को यह भेद नहीं सिखाना चाहिए या फिर एक कलाकार को कोई फर्क न पड़ेगा अगर उसे इस बाबत कोई जानकारी नहीं। (दरअसल प्रयोग के द्वारा इस फर्क को क्षण-भर में जाना जा सकता है, लेकिन यह रहा एक वैज्ञानिक तरीका जिसका ख्याल कला शिक्षकों के ज़ेहन में न आए शायद)।

एक-दूसरे से बात करने के लिए हमें शब्दों का सहारा लेना ही पड़ता है, और इसमें कुछ गलत भी नहीं। लेकिन फर्क कर पाना बहुत ज़रूरी है। बहुत ज़रूरी है यह भेद जान पाना कि कब हम विज्ञान के लिए ज़रूरी साधन जैसे कि इसकी शब्दावली वगैरह पढ़ा रहे होते हैं और कब हम ठेठ विज्ञान ही सिखा रहे होते हैं। चलिए, विज्ञान की एक पुस्तक की नकारात्मक आलोचना के ज़रिए मैं अपनी बात कुछ और स्पष्ट करने का प्रयास करता हूं।

यह एक पहली श्रेणी की किताब है। इसके पहले अध्याय की शुरुआत ही विज्ञान पढ़ाने के एक खेदजनक तरीके से होती है। खेदजनक इसलिए कि विज्ञान क्या है संबंधी एक गलत धारणा से यह पुस्तक शुरू होती है। इसके पहले अध्याय में एक कुत्ते का चित्र है। पहले एक चाबी वाले खिलौना कुत्ते का चित्र – फिर चाबी भरते एक हाथ का चित्र – और फिर चलते हुए कुत्ते का चित्र और एक प्रश्न, "कौन-सी चीज़ इसके चलने का कारण है?" इसके बाद एक असली कुत्ते का चित्र और एक प्रश्न, "कौन-सी चीज़ इसके चलने का कारण है?" इसके बाद एक मोटर साइकिल और वही सवाल, "कौन-सी चीज़ इसके चलने का कारण है?" आदि-आदि।

पहले मुझे लगा कि वे विज्ञान के विभिन्न दायरों यानी भौतिकी, जीव विज्ञान, रसायन शास्त्र के बारे में बताने की भूमिका बना रहे हैं। लेकिन

वैसा नहीं था। किताब के शिक्षक संस्करण में इसका उत्तर था, "इन सबके चलने का कारण ऊर्जा है।"

अब ऊर्जा जो है गोया इतनी आसान भी नहीं, बड़ी विकट अवधारणा है। इसे सही तौर पर समझ पांना बेहद मुश्किल है। मेरा मतलब यह है कि ऊर्जा को इतनी अच्छी तरह समझ पाना आसान नहीं कि उसका सही प्रयोग किया जा सके और इस विचार का इस्तेमाल करते हुए आप अन्य निष्कर्ष निकाल पाएं। यह पहली कक्षा से तो परे की बात है ही। इसके बदले आप यह जवाब भी दे सकते हैं कि "भगवान इसे चलाते हैं", या कि "आत्मा इसे चलाती है", या फिर "गतिशीलता इसे गति देती है।" (दरअसल कहा यह भी जा सकता है कि "ऊर्जा इसके रुकने में सहायक होती है।")

चलिए, इसे ऐसे देखते हैं – यह ऊर्जा की परिभाषा भर है। उसे पलटा जाना चाहिए। जब कोई चीज़ गति कर सकती है, तब हम कह सकते हैं कि उसमें ऊर्जा है। लेकिन यह नहीं कि "ऊर्जा उसके चलने का कारण है।"
इन दोनों में अत्यंत ही सूक्ष्म भेद है। जड़त्व की समस्या के साथ भी कुछ ऐसा ही है। शायद मैं इस फर्क को इस प्रकार थोड़ा-सा और स्पष्ट कर पाऊं।

आप किसी बच्चे से पूछें कि "कौन-सी चीज़ उस खिलौने के चलने का कारण है?" और फिर एक आम आदमी से वही बात पूछें ..... जवाब होगा, आप चाबी भरेंगे तो स्प्रिंग कसेगा, और फिर यह स्प्रिंग खुद को खोलने के चक्कर में गियर को गोल-गोल घुमाएगा। विज्ञान शुरू करने का नायाब तरीका हो सकता है यह। बस खिलौना खोलें और देखें कि वह काम कैसे करता है। गियर की पटुता परखें, दांतेदार चक्र देखें, खिलौने को उसके बनने के तरीके से समझें। दांतेदार चक्र और दूसरी चीज़ें सोचने-बनाने वाले लोगों के कौशल के कायल बनें। दरअसल, सवाल में कोई खामी नहीं, जवाब ही गड़बड़ है। गलती यह है कि उनकी कोशिश ऊर्जा की परिभाषा सिखाने की रही, जो इससे नहीं सीखा जा सकता।

मान लो कोई विद्यार्थी कह उठे, "मैं नहीं समझता कि यह खिलौना ऊर्जा से चलता है।" अब बताएं कहां गई तमाम बहस? हो गई पंक्चर!

आखिरकार मैंने एक तरीका पा ही लिया; यह जांचने का कि आपने एक अवधारणा सिखाई है या कि महज एक परिभाषा भर। तरीका यूं है, "हाल ही में सीखे नए शब्दों का इस्तेमाल किए बगैर आप उस बात को अपने तरीके से, अपनी भाषा में कहने का प्रयास करें जो आपने अभी-अभी सीखी है।" "ऊर्जा शब्द के इस्तेमाल के बिना ही बताएं कि अब आप कुत्ते की गति के बारे में क्या जानते हैं।" आप नहीं बता पाएंगे। कुल जमा बात यह है कि आपने परिभाषा के सिवा न कुछ सीखा, न जाना। आपने विज्ञान के बारे में कुछ न सीखा। यह शायद गलत भी न हो। हो सकता है कि आप इस वक्त विज्ञान के बारे में कुछ सीखना ही नहीं चाहते । ऐसे में आप को परिभाषाएं रटनी पड़ती हैं। अब आप ही बताएं, क्या पहले ही अध्याय के लिहाज़ से यह सब अनर्थकारी नहीं?

मेरे ख्याल से, पहले ही अध्याय में किसी सवाल का जवाब देने के लिए एक गूढ़, रहस्यमय सूत्र का सहारा लेना एक खराब शुरुआत है। किताब में और भी चीज़ें हैं – "गुरुत्वाकर्षण के कारण चीज़ें गिरती हैं," "आपका जूते का तला घर्षण के कारण घिसता है।" जूते का चमड़ा दुर्बल हुआ जाता है, क्योंकि चलने के दौरान वह सड़क के साथ घिसता रहता है और सड़क की उबड़-खाबड़ सतह के साथ गुत्थमगुत्था हो टुकड़े-टुकड़े होता रहता है। इसे सिर्फ 'घर्षण' का नाम दे इतिश्री करना दुःखद होगा – क्योंकि यह विज्ञान नहीं है।

●●●

मेरे पिता ने भी ऊर्जा के बारे में चर्चा की, लेकिन इस शब्द का इस्तेमाल उन्होंने तभी किया जब मुझे यह थोड़ा-बहुत स्पष्ट होने लगा। इस मामले में वे क्या करते, मुझे मालूम है। दरअसल, उन्होंने भी मूलतः वही चीज़ें की, लेकिन उसी खिलौने की मिसाल देकर नहीं। अपने ही लिहाज़ में वे बोलते, "वह चलता है क्योंकि सूरज चमकता है।" मैं कहता, "अरे, सूरज चमकने, न चमकने से इसका क्या लेना-देना? यह हिला, क्योंकि मैंने चाबी भरी थी।"

"अरे यार, तुम भला चाबी भरने के लिए कैसे हिलडुल पाए?"

"क्योंकि मैं खाना खाता हूं।"

"क्या खाते हो तुम?"

"सब्ज़ियां और पत्ते।"

"और ये सब कैसे पैदा होते हैं?"

"वे बढ़ते हैं क्योंकि सूर्य चमकता है, और कैसे!"

कुत्ते के मामले में भी ऐसा ही कुछ है। कैरोसीन या पेट्रोल क्या है? सूरज की ऊर्जा जिसे पौधों ने जमा करके ज़मीन के अंदर संरक्षित रखा है। अन्य सभी उदाहरण भी सूरज पर ही आकर खत्म होते हैं। तो इस तरह, जिस विचार की तरफ हमारी पाठ्यपुस्तक लेकर जाना चाहती है, उसे एक दिलचस्प अंदाज़ में व्यक्त किया जा सका है। हर वो चीज़ जो चलती-फिरती है उसके ऐसा कर पाने का कारण हम सूरज की रोशनी में देख पाते हैं। यह बात ऊर्जा के दो अलग-अलग स्रोतों के आपसी नाते की व्याख्या करती है। बच्चे इससे असहमत हो सकते हैं और आप उनसे चर्चा कर सकते हैं। तो इसमें एक अंतर है। (बाद में, मैं ज्वार-भाटे और पृथ्वी के घूमने के कारणों जैसे रहस्य भरे सवालों को लेकर पिताजी से फिर उलझ पाया)।

यह परिभाषाओं (जो ज़रूरी भी हैं) और विज्ञान के बीच के अंतर का केवल एक उदाहरण है। खासतौर पर इस मामले में, ऐतराज सिर्फ यह है कि यह सब पहले अध्याय में किया जा रहा था। बेशक यह सब आना चाहिए, लेकिन कुछ बाद में, ऊर्जा के बारे में बात करते समय, और वह भी कुत्ते की गतिशीलता से जुड़े ऐसे उदाहरण से नहीं। बच्चे को, बच्चे जैसा ही जवाब मिलना चाहिए, "चलो इसे खोलते हैं, और देखते हैं।"

●●●

जंगल में पिताजी के साथ घूमते हुए मैंने बहुत कुछ जाना। मसलन पक्षियों के मामले में – उस चिड़िया का नाम न ले, उसकी जगह पिताजी कहते, "उस चिड़िया पर ध्यान दो। वह बार-बार अपने परों में चोंच डाल रही है। वो अपने पंखों को बहुत ज़्यादा कुरेदती है। तुम्हें क्या लगता है कि वह ऐसा क्यों करती है?"

मैंने अंदाज़ लगाया, शायद इसलिए कि उसके पंख कुछ इखरे-बिखरे से

हैं और वह उनको सीधा करने के जुगाड़ में है। "लेकिन पंख कब और क्यों अस्त-व्यस्त हो जाते हैं?" पिता पूछते।

"जब वह उड़ती है। चलने से कोई दिक्कत नहीं, लेकिन उड़ते वक्त पंख अस्त-व्यस्त हो जाते हैं।"

वे कहते, "तो तुम्हारा कहना है कि ज़मीन पर उतरने के तुरन्त बाद इस चिड़िया को अपने पंखों में चोंच ज़्यादा मारनी पड़ती है, लेकिन ज़मीन पर उतरने और अपने पंखों को तह करके इधर-उधर तफरीह ले लेने के बाद उसे इसकी ज़रूरत कम पड़ती है। ठीक है, चलो, खुद ही चल के देख लेते हैं।" हमने देखा, ध्यान से देखा और मैंने पाया कि चाहे कितनी ही देर से वो ज़मीन पर घूम रही हो, उसका अपने पंखों को चोंच मारना कम नहीं होता।

मेरा अनुमान गलत निकला और मैं सही वजह नहीं खोज पा रहा था। पिताजी ने कारण बताया कि उन चिड़ियों में जूंएं होती हैं। फिर मेरे पिता ने पूरी-की-पूरी एक खाद्य शृंखला की दिलचस्प दास्तान सुनाई कि चिड़िया के पंखों से एक पपड़ी-सी निकलती है, जिन्हें जूंएं खाती हैं। तिस पर इन जूंओं की टांगों के बीच के जोड़ों में से मोमनुमा पदार्थ निकलता है जो वहां बसे एक प्रकार के कीट का भोजन बनता है। लेकिन इस कीट की नियति देखो कि वो इसे पूरी तरह हजम नहीं कर पाता। नतीजतन उसके पिछले भाग से एक द्रव निकलता है जिसमें लबालब शक्कर-ही-शक्कर होती है जिसमें एक सूक्ष्म प्राणी पलता है, इत्यादि इत्यादि।

तथ्य भले ही सही न हों पर जज़्बा सही है। पहले मैंने परजीविता को जाना – एक पर दूजा, दूसरे पर तीसरा, तीसरे पर .... फिर किसी और पर एक और ......।

एक और बात उन्होंने बताई कि दुनिया में जब-जब भोजन का कोई स्रोत होगा जिस पर ज़िंदा रहा जा सकता है, तब-तब जीवन अपने किसी-न-किसी रूप में उपस्थित हो उस स्रोत का उपभोग करेगा, और हर बच रहा निवाला किसी-न-किसी का ग्रास तो बनता ही है।

मेरा आशय यह है कि अवलोकन का परिणाम अद्‍भुत, विलक्षण रहा। भले ही मैं अंतिम निष्कर्ष तक न पहुंच पाया, पर जो पाया वह उत्कृष्ट

था। मान लो मुझे अवलोकन करने के लिए, सूची बनाने के लिए, लिखने, देखने के लिए कहा जाता और जब मैं अपनी सूची बनाता तो अपनी नोट बुक के पीछे 130 दूसरी सूचियों को नत्थी पाता। मुझे लगता गोया अवलोकन का निष्कर्ष तुलनात्मक रूप से नीरस ही होता है, और इससे कोई बात बनती तो नहीं दिखती।

मेरे हिसाब से लोगों को अवलोकन करना सिखाते वक्त आप उन्हें यह अहसास ज़रूर कराएं कि इस तमाम प्रक्रिया से कुछ उम्दा तो ज़रूर हासिल होगा। मैंने तो तभी जाना कि विज्ञान जिस चीज़ का नाम है – वह चीज़ है धीरज। अगर आपने देखा, आपने भाला, और उस पर ध्यान भी धरा तो यकीनन आपको इसका प्रतिफल मिलेगा (ज़रूरी नहीं कि हर दफा मिले)। नतीजा यह कि और परिपक्व होने के बाद मैं श्रम साध्य तरीके से घंटों-घंटों, सालों-सालों नाना प्रकार की समस्याओं में भिड़ा रहता – और कई बार सालों तक कोई नतीजा न निकलता। ढेरों पर्चे कचरे की टोकरी की भेंट चढ़ जाते, लेकिन बीच-बीच में, कभी कोई नई समझ अचानक कौंध आती और मैं समृद्ध महसूस करता। मैंने यह कभी नहीं पाया कि अवलोकन बेकार-बेकाम की चीज़ है।

जंगल में हमने कई अन्य चीज़ें भी जानीं। हम घूमने निकलते और उन तमाम चीज़ों पर गौर फर्माते जो नियत व प्रकृत ढंग से होती रहतीं – पल-पल बढ़ते पौधे, अपने हिस्से की रोशनी पाने को मचलते पेड़ और ऊंचे-से-ऊंचा होने की कोशिशें, तिस पर 35-40 फीट से ज़्यादा की ऊंचाई पर पानी पहुंचने की समस्या, ज़मीन पर उग आए नन्हें-नन्हें पौधे जो यहां-वहां से, तमाम कायनात से झिर-झिर आती रोशनी की फिराक में रहते.....।

यह सब देख चुकने के बाद, एक दिन मेरे पिता मुझे फिर से जंगल ले गए और बोले, "पिछले कुछ समय से, जब से हम जंगल देख रहे हैं, हमने अभी यहां हो रही आधी चीज़ें ही देखी हैं, एकदम आधी।"

मैं बोला, "क्या कह रहे हैं आप?"

वे बोले, "अभी तक हमने इन चीज़ों का बढ़ना ही देखा है लेकिन हर बढ़ने के साथ-साथ उतनी ही मात्रा में घटना भी होता है। अन्यथा यह सारा पदार्थ हमेशा के लिए खत्म हो चुका होता। मृत पेड़ ज़मीन पर ही पड़े रहते और हवा व मिट्टी के सारे तत्वों को जीम चुके होते। फिर वहां कुछ न उग पाता क्योंकि उगने के लिए ज़रूरी तत्व बचते ही नहीं। इसलिए हर वृद्धि के साथ उतनी ही मात्रा का क्षय होना ज़रूरी है।"

इसके बाद हमने जंगल की कई बार सैर की। हम वहां बूढ़े ठूंठों को तोड़-तोड़ कर देखते, अजीबो-गरीब कीड़े और पनपती फफूंद देखते। हालांकि वे मुझे बैक्टीरिया तो न दिखा पाए पर फिर भी मैं जंगल को हर पल बदलते पदार्थों की एक सतत प्रक्रिया के बतौर तो देख ही सका।

हमारे बीच अनन्त बातें होती – जहां चीज़ों के विस्तार में जाने का एक निराला तरीका होता। वे अक्सर बात कुछ इस तरह शुरू करते, "मंगल ग्रह से पधारे किसी वासी की नज़रों से हमारा यह संसार देखो।" एक बार जब मैं अपनी बिजली से चलने वाली रेलगाड़ी से खेल रहा था, तो उन्होंने कहा कि एक बड़ा-सा चका है जो पानी की वजह से घूम रहा है, ये चका ताम्बे के तंतुओं से जुड़ा हुआ है और ये तंतु हर दिशा में दूर-दूर तक फैले हैं, और फिर कई सारे छोटे चके भी हैं, जो बड़े चके के घूमने पर घूमते हैं। उनके बीच केवल तांबा और लोहा ही है, इसके अलावा और कुछ भी नहीं, बीच में कोई घूमने वाला हिस्सा नहीं। आप यहां एक चका घुमाइए और बस सारे-के-सारे छोटे चके, बड़के के साथ-साथ चल पड़े। तुम्हारी रेलगाड़ी भी उनमें से एक है! मेरे पिता का संसार एकदम अद्‌भुत था.....।

●●●

विज्ञान की दास्तां भी, मेरे ख्याल से, कुछ-कुछ ऐसी ही अजीब है। इस ग्रह पर जीवन का उद्‌भव हुआ और जैविक विकास के ज़रिए ऐसे पड़ाव तक आ पहुंचा, जहां ऐसे जीव थे, जो बुद्धिमान थे। मेरा आशय

महज इंसानों तक ही सीमित नहीं है। मैं उन जानवरों की भी बात कर रहा हूं, जो खेलते हैं और अपने अनुभव से सीखते हैं। लेकिन इस स्तर पर हर प्राणी को अपने खुद के अनुभव से ही सीखना पड़ेगा।

इन जीवों में धीरे-धीरे विकास होता गया, तब तक, जब तक कि वे न केवल अपने ही अनुभव से ज़्यादा तेज़ी से सीखने की क्षमता अर्जित कर लें, बल्कि दूसरों को देख उनके अनुभव से सीखने की क्षमता भी वे अर्जित कर सकें; यही नहीं, वे दूसरों को भी दिखा सकें जो कुछ उन्होंने किसी और को करते देखा हो। इस तरह से सभी द्वारा सब कुछ सीख सकने की संभावना भी जन्मी। लेकिन एक से दूसरे तक यह ज्ञान पहुंचने का तरीका सक्षम न था। मौत का क्या कीजिए? क्या कीजिएगा, जब उस्ताद ही कूच कर जाएं, बगैर अपना इल्म अपने शागिर्दों तक पहुंचाए।

सवाल यह है कि क्या किसी और के द्वारा संयोग से सीखी गई चीज़ को, भुला दिए जाने की दर से भी ज़्यादा तेज़ी से सीखा जा सकता है? उस सीख को भूल जाने का कारण कुछ भी हो सकता है – कमज़ोर याद्दाश्त, खोजने वाले की मृत्यु......।

समय के साथ एक ऐसा समय आया, शायद, जब कुछ प्रजातियों में सीखने की दर इतनी तेज़तर हुई कि एकदम नई सूरत ही निकल आई। एक प्राणी कुछ सीखकर उसे अगले तक पहुंचा देता, वो उससे आगे वाले को, ... यह सब इतनी तेज़ी से हो पा रहा था कि ज्ञान विसर जाने से पहले फैल पा रहा था। .... और ज्ञान की यह 'रिले रेस' इतनी तेज़ हो चली कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज्ञान का संचय होता गया।

इसे समय-बन्ध (टाइम बांइडिंग) का नाम दिया गया है। मैं नहीं जानता यह नाम किसने दिया। बहरहाल, हमारे आस-पास ऐसे जीव मौजूद हैं जो एक अनुभव को दूसरे से जोड़कर, एक-दूसरे से सीखने की कोशिश में लगे हुए हैं।

प्रजाति की सामूहिक स्मृति के माध्मय से संचित ज्ञान का पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरण, इस दुनिया में एक नई बात थी। लेकिन इस प्रक्रिया में एक खामी थी, एक रोग जैसा था – गलत विचार भी आगे बढ़ जाते थे। ऐसे विचार भी फैल जाते थे जो हो सकता है उस प्रजाति के लिए फायदेमंद ही न हों। ऐसे में, प्रजाति के पास विचारों का संचय तो

होगा, पर ज़रूरी नहीं सब उपयोगी या फायदेमंद हों।

तो एक ऐसा समय आया जब सभी जमा विचार (फिर चाहे वे धीरे-धीरे ही क्यों न इकट्ठे हुए हों) केवल व्यावहारिक व उपयोगी ही न थे, बल्कि यह जमावड़ा तमाम किस्म के पूर्वाग्रहों और विचित्र तथा अजीब विश्वासों से भी भरा हुआ था।

ऐसे में इस खामी से बचने का एक उपाय सूझा। और वह था संदेह का समाधान। हर उस बात पर संदेह करना जो बात अतीत से बह कर हम तक पहुंची है – एक अनुभूत 'सत्य' का जामा पहने, और फिर ठेठ शुरुआत से अपने ही अनुभव के बूते उस 'सत्य' को परखना। बजाए इसके कि पहले के अनुभव पर ज्यों-का-त्यों विश्वास कर लिया जाए। और यही विज्ञान है। इस बात की खोज कि भूतकाल के औरों के सब अनुभवों पर विश्वास करने के बजाय, खुद परख कर अनुभव हासिल करना बेहतर होता है। मैं तो इसे इसी रूप में देखता हूं। मेरी नज़र में यही सर्वश्रेष्ठ परिभाषा है।

●●●

आपकी हौंसला-अफज़ाई के लिए मैं आपको वो सारी बातें याद कराना चाहूंगा जिन्हें आप अच्छे से जानते हैं। धार्मिक मामलों में भी तो नैतिक पाठ, एक बार नहीं, बार-बार पढ़ाए जाते हैं ताकि आप बार-बार उत्प्रेरित हों। मेरे ख्याल से यह बार-बार प्रेरित करना ज़रूरी भी है। साथ ही ज़रूरी है बच्चों, बड़ों, सभी के लिए, विज्ञान का मूल्य समझना। सिर्फ इसलिए नहीं कि हम बेहतर नागरिक बनें, या प्रकृति पर हमारा नियंत्रण बेहतर हो। नहीं, कुछ और बातें भी हैं।

विज्ञान द्वारा जनित विश्वदृष्टि का अपना एक मूल्य बोध है। नए-नए अनुभवों से हासिल दृष्टि से खोजी गई दुनिया का अपना एक सौंदर्य है, विस्मय है। विस्मय उस बात का जो मैंने आपको अभी बताई कि पदार्थ गतिमान है क्योंकि सूरज चमक रहा है। यह एक गहरा विचार है – अद्भुत, अचरज से भरा विचार। (हालांकि यह भी सही है कि सारी चीज़ों की गति का कारण सूरज का चमकना नहीं है। पृथ्वी की परिक्रमा सूरज के चमकने से स्वतंत्र है। और जो नाभिकीय क्रियाएं पृथ्वी पर ऊर्जा का नवीन स्रोत बनकर उभरी हैं। शायद ज्वालामुखियों के फटने

का स्रोत भी सूरज के चमकने से इतर है।)

विज्ञान पढ़ने के बाद दुनिया कितनी बदली-बदली सी नज़र आती है। मसलन पेड़ मुख्यतः हवा से बनते हैं। जलने के बाद वे फिर हवा में जा मिलते हैं। और जलने पर छूटी ऊष्मा में सूरज की वही ऊष्मा है जो हवा को पेड़ में बदलने में इस्तेमाल हुई थी। राख के रूप में बचे अवशेष में पेड़ का वह हिस्सा है, जो हवा से न होकर ठोस पृथ्वी (मिट्टी) से आया था।

इन्हीं खूबसूरत चीज़ों से विज्ञान अपने अचरजी अंदाज़ में भरा पड़ा है। ये स्वयं भी प्रेरणादायक हैं और इनका इस्तेमाल दूसरों को प्रेरित करने में भी किया जा सकता है।

विज्ञान की एक और विशेषता यह है कि यह तार्किक सोच का मूल्य समझाता है। साथ ही यह, विचार की स्वतंत्रता के महत्व से भी अवगत कराता है। हर पढ़ाई जाने वाली बात पर यकीन न कर उसे अनास्था के दायरे में ले आने के बहुत से सकारात्मक परिणाम मिले हैं। यहां, खास तौर पर शिक्षण में, आपको भेद करना होगा, विज्ञान और विज्ञान के उन तमाम तरीकों या प्रक्रियाओं में; वे तरीके व प्रक्रियाएं जो विज्ञान को विकसित करने में इस्तेमाल होते हैं। यह कहना आसान है, "हम लिखते हैं, प्रयोग करते हैं और अवलोकन करते हैं, और यह कहते हैं, वह करते हैं।" आप तरीकों की हूबहू नकल कर सकते हैं। अच्छे-खासे धर्म इसीलिए हवा हो जाते हैं, चूंकि उन्होंने जो लकीर सुझाई हम बस वही पीटते रह गए। इसी प्रकार यह भी संभव है, विज्ञान के नाम में तरीकों, रीतियों को अपनाए चले जाना, लेकिन वह छद्मविज्ञान ही होगा।

शिक्षण के क्षेत्र में ऐसे कई अध्ययन हैं – मसलन जहां लोग अवलोकन करते हैं, फिर सूची बनाते हैं, सांख्यिकीय कर्म करते हैं; लेकिन वो सब स्थापित विज्ञान, स्थापित ज्ञान नहीं बन जाता। वो तो विज्ञान की नकल भर है। वैसे ही जैसे दक्षिण समुद्री टापुओं के वासी लकड़ी की हवाई पट्टी और रेडियो टॉवर बना बैठे, इस उम्मीद में कि वहां एक बड़ा जहाज़ उतरेगा। यहां तक कि वे लकड़ी के हवाई जहाज़ भी बनाते हैं, ठीक वैसे ही हवाई जहाज़ जैसे वे अपने आस-पास फैले विदेशियों की हवाई पट्टियों पर आते-जाते देखते हैं। लेकिन अचरज कि वे उड़ते ही नहीं। इस छद्म वैज्ञानिक नकल का नतीजा है विशेषज्ञों की एक बड़ी

भारी जमात खड़ी कर देना। लेकिन धरातल पर बच्चों को पढ़ाने वाले शिक्षकों, आप तो कभी कभार विशेषज्ञों पर संदेह ज़ाहिर कर ही सकते हैं। विज्ञान से सीखें कि आपको विशेषज्ञों पर शक करना ही है। वस्तुत: विज्ञान को मैं एक और तरह से भी परिभाषित कर सकता हूं – विशेषज्ञों की अज्ञानता पर विश्वास करना, यानी कि विशेषज्ञों पर संदेह करना ही विज्ञान है।

यह कहना कि विज्ञान यह सिखाता है वह सिखाता है – शब्दाडम्बर होगा। विज्ञान नहीं सिखाता, अनुभव सिखाता है। अगर वे कहें कि विज्ञान हमें यह-वह दिखाता है तो आप पूछिए, "विज्ञान ऐसा कैसे कर पाता है? वैज्ञानिकों ने यह सब कैसे पता किया? कैसे, क्या, कहां?"

विज्ञान ने नहीं बल्कि, इस प्रयोग, इस प्रभाव ने दर्शाया है। आपको भी अन्य तमाम लोगों जैसे ही यह अधिकार प्राप्त है कि प्रयोगों के बारे में सुनने के बाद (लेकिन हमें सारे साक्ष्य सुनने चाहिए) निर्णय ले सकें कि इस सब में, फिर से इस्तेमाल किए जा सकने वाले किसी निष्कर्ष तक पहुंचा गया है या नहीं!

ऐसे मसले में, जो इतना पेचीदा है कि सही विज्ञान क्या बला है कहा नहीं जा सकता, हमें पुराने ज़माने की सूझ-बूझ पर विश्वास करना होगा। मैं यहां ठेठ धरातल पर काम कर रहे शिक्षक को उम्मीद दिलाना चाहता हूं कि वे सहज बुद्धि पर अपना भरोसा रखें। आपके अगुआ विशेषज्ञ गलत हो सकते हैं।

मैंने शायद इस व्यवस्था को बर्बाद किया है और 'केलटेक' में आने वाले छात्र अब शायद इतने अच्छे न रहें। हम एक ऐसे अवैज्ञानिक युग में जी रहे हैं, जहां संचार और टी.वी. पर परोसी जाने वाली तमाम बातें, किताबें, सभी अवैज्ञानिक हैं। वे बुरी नहीं हैं, वे बस अवैज्ञानिक हैं। विज्ञान के नाम पर इतनी बौद्धिक हेकड़ी व्यापी है चहुं ओर कि पूछो मत।

अंत में बस यही कि इन्सान का जीवन फकत कब्र तक का ही है। इसीलिए हरेक पीढ़ी को अनुभव से मिली सौगात को अगली पीढ़ी को सुपुर्द करते रहना चाहिए। इस सुपुर्दगी में आस्था व अनास्था का एक उत्कृष्ट समन्वय होना चाहिए ताकि एक प्रजाति अपने भ्रम इतनी कठोरता से युवा पीढ़ी पर न बरपा दे। वह अपने द्वारा कमाए ज्ञान को

तो आगे बढ़ाए अवश्य पर यह विवेक भी उन तक ज़रूर पहुंचाए कि संभवत: यह ज्ञान न भी हो।

अतीत का स्वीकार व अस्वीकार, दोनों ही सिखलाना ज़रूरी है, और वह भी ऐसी संतुलित दृष्टि से जिसमें एक खास तरह का कौशल दरकार हो। तमाम विषयों में विज्ञान ही वह विषय है जो हमें अपने पहले की पीढ़ियों के महान शिक्षकों की अचूक दृष्टि पर हमारी असंशयी आस्था में निहित खतरे का पाठ खूब पढ़ाता है। सो जारी रखें, शुक्रिया।

रिचर्ड फाइनमेन: (1918-1988) प्रख्यात भौतिकशास्त्री। यह लेख उनके द्वारा सन 1966 में नेशनल सायन्स टीचर्स असोसिएशन में दिए गए व्याख्यान का संपादित रूप है।
अंग्रेज़ी से अनुवाद: मनोहर नोतानी। शौकिया अनुवादक। विमर्श संस्था से संबद्ध। भोपाल में रहते हैं।

दिन-पर-दिन कम्प्यूटर और छोटे , और पतले होते जा रहे हैं। कुछ नवीनतम कम्प्यूटर तो 150 पन्ने की कॉपी जितने पतले हो गए हैं। इन्हें इतना छोटा बनाने की तकनीक विकसित कर पाने के दो पहलू हैं। एक तो ज़्यादा कार्यकुशल उपकरण बना पाना, खासतौर पर ऐसे उपकरण बनाना जो ज़्यादा गर्म नहीं हो पाते हों – तीव्रतम गणनाओं के लिए, जानकरी के संग्रहण के लिए आदि। दूसरा ऐसी स्क्रीन बना पाना जो अत्यन्त पतली व चपटी हो पर साथ ही उच्च गुणवत्ता की तस्वीरें दिखा सके। इस लेख में हम दूसरे पहलू की चर्चा करेंगे जिससे यह संभव हो पाता है।

आपको शायद मालूम ही होगा कि इन 'नोट बुक कम्प्यूटर' या साधारण कम्प्यूटर की आधुनिक चपटी स्क्रीन L.C.D. कहलाती है यानी 'लिक्विड

ाल कुमार

लिक्विड क्रिस्टल डिस्प्ले

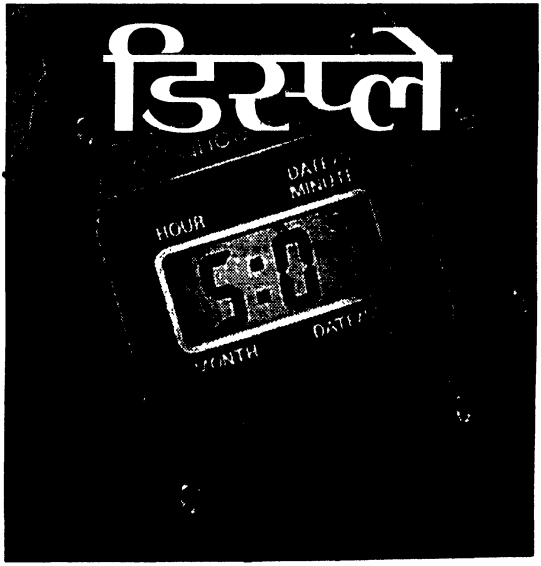

क्रिस्टल डिस्पले'। इसका अर्थ हुआ द्रवीय रवों से बनी हुई स्क्रीन। आपका इससे परिचय इलेक्ट्रॉनिक घड़ियों की वजह से ज़रूर होगा क्योंकि उनमें काले रंग में समय, तारीख व अन्य जानकारियां इसी के कारण दिखाई देती हैं। परन्तु इलेक्ट्रॉनिक घड़ियों की स्क्रीन तो द्रव जैसी बिल्कुल भी नहीं दिखती फिर 'लिक्विड क्रिस्टल डिस्पले' क्यों कहलाती है? अगर आप ऐसी स्क्रीन को धीरे से दबाकर देखें तो समझ में आएगा कि साधारण कम्प्यूटर मॉनीटर या टी.वी. स्क्रीन की तरह ये उतनी ठोस नहीं महसूस होती। (इलेक्ट्रॉनिक घड़ियों में आपको कांच के नीचे उपस्थित L.C.D. को छूकर देखना होगा।) दरअसल इनमें दो पारदर्शी पट्टियों/परतों के बीच द्रवनुमा पदार्थ रखा जाता है। ये काम कैसे करती हैं इसे जानने से पहले आइए यह समझ लें कि 'द्रवीय रवे' यानी लिक्विड क्रिस्टल आखिर होते क्या हैं?

द्रवीय रवे यानी क्या?

'लिक्विड क्रिस्टल' शब्द से आपको लगता है न कि अत्यन्त सूक्ष्म रवों से बना हुआ द्रव होगा यह? शायद पहली बार यह शब्द इसी रूप में इस्तेमाल हुआ था। इस शब्द का सबसे पुराना इस्तेमाल एलेक्ज़ेंडर डूमा के एक उपन्यास में मिलता है जिसमें उसने एक महिला का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसकी आंखें 'द्रवीय रवों' की तरह चमक रही थीं। यह वर्णन पढ़ते ही ऐसी चमकीली आंखों की तस्वीर उभर आती है।

परन्तु L.C.D. में जो द्रवीय रवे इस्तेमाल किए जाते हैं वे इस वर्णन से बहुत ही अलग होते हैं। अगर आप उन्हें परखनली में डालें तो वे दूधिया नज़र आते हैं! अगर उन्हें गर्म करें तो वे एकदम पारदर्शी हो जाते हैं।

यह सब पढ़ते हुए लग सकता है कि उपरोक्त जुमला ही काफी भ्रामक है, है न? लिक्विड क्रिस्टल के संदर्भ में हमें यह ध्यान रखना होगा कि दरअसल यह शब्द पदार्थ की एक ऐसी अवस्था चिन्हित करता है जिसके प्रकाशकीय गुणधर्म ठोस पदार्थों जैसे होते हैं परन्तु वह बहता तरल की तरह है।

1888 में फ्रेडरिक रेनिटाइज़र ने बताया था कि जब उसने कोलेस्टेराइल बेन्ज़ोएट को तैयार करके गर्म किया तो उसने दो मज़ेदार नई बातें देखीं। उसके मुताबिक 145 डिग्री सेंटीग्रेड ताप पर ठोस रवे दूधिया द्रव में परिवर्तित हो जाते हैं (पहला द्रवीय रवा था यह)। जब इसे और गर्म किया जाता था तो 179 डिग्री सेंटीग्रेड ताप पर यह द्रव एकदम पारदर्शी बन जाता था। जब उसने इसे ठंडा किया

तो वही परिवर्तन उलटे क्रम में देखने को मिले।

विज्ञान के संदर्भ में 'लिक्विड क्रिस्टल' शब्द का इस्तेमाल पहली बार ऑटो लेहमेन ने सन् 1900 में किया। अब 'लिक्विड क्रिस्टल' के सामान्य गुणधर्म सब पहचानते हैं कि पदार्थ की द्रवीय रवे वाली अवस्था में वह ठोस के प्रकाशकीय गुणधर्म व तरल जैसा बहाव प्रदर्शित करता है।

तरल की बहाव संबंधी विशेषताओं के बारे में तो हमें अच्छा खासा अहसास होता है कि हम उन्हें एक परखनली से दूसरी में उड़ेल सकते हैं, उनकी बूंदें बन सकती हैं, वे कुछ सतहों पर फैल जाते हैं आदि-आदि। परन्तु ठोस रवों के ऐसे कौन से प्रकाशकीय गुणधर्म हैं जो इन द्रवीय रवों में पाए जाते

चित्र-1

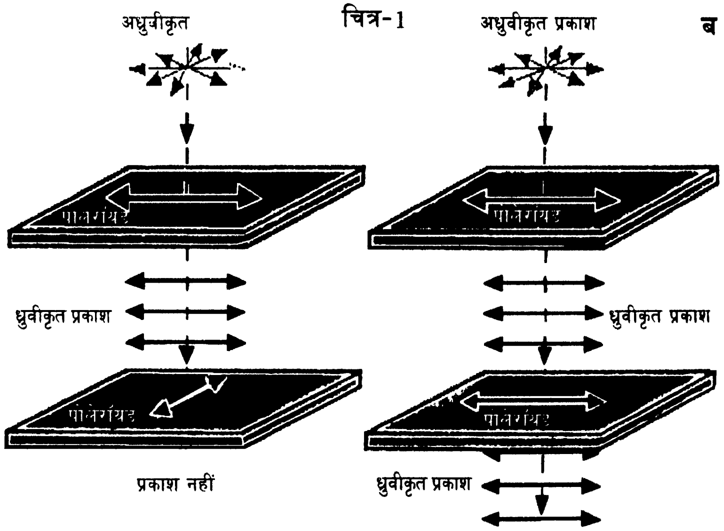

ऊपर का पोलेरॉयड एक दिशा विशेष को छोड़कर अन्य सब दिशाओं में कंपित हो रही प्रकाश की किरणों को रोक देता है। यानी कि हमें ध्रुवीकृत प्रकाश प्राप्त हो जाता है। (अ) अगर अब दूसरा पोलेरॉयड इस तरह से रखा गया है कि वह जिस दिशा में कंपित होने वाली किरणों को गुज़रने देगा, वह आपतित किरणों के कंपन की दिशा के लंबवत है तो उसमें से ये प्रकाश किरणें गुज़र नहीं पाएंगी। (ब) परन्तु अगर दूसरे पोलेरॉयड को घुमाकर ऐसे रखा गया है कि दोनों दिशाएं एक दूसरे के समानांतर हैं तो दूसरे पोलेरॉयड में से भी प्रकाश किरणें आर–पार निकल जाती हैं।

हैं? इनमें सबसे महत्वपूर्ण है जिसे प्रकाशकीय द्विअपवर्तन (Optical bi-refringence) कहा जाता है। इस गुणधर्म को प्रदर्शित करने वाले माध्यम में प्रकाश की गति अलग-अलग होगी – और वह इस बात पर निर्भर करेगी कि प्रकाश का पोलेराइज़ेशन यानी ध्रुवीकरण किस प्रकार का हो रहा है।

ध्रुवीकृत प्रकाश

परन्तु प्रकाश का पोलेराइज़ेशन या ध्रुवीकरण होता क्या है? आपको मालूम ही होगा कि प्रकाश दरअसल एक विद्युत चुम्बकीय तरंग है जिसमें विद्युतीय क्षेत्र व चुम्बकीय क्षेत्र एक दूसरे की लम्बवत दिशा में लगातार कंपित होता रहता है। और इन दोनों क्षेत्रों के कंपन, प्रकाश तरंग जिस दिशा में गति कर रही है उसके लम्बवत होते हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि अगर प्रकाश किरण 'ज़ेड' अक्ष की दिशा में जा रही है तो विद्युतीय क्षेत्र 'एक्स' या 'वाइ' सतह में कहीं भी पाया जा सकता है। अब आप अगर इस प्रकाश किरण के रास्ते में एक ध्रुवित फिल्म या पट्टी यानी पोलेरॉयड रख दें तो उस फिल्म की संरचना के अनुसार एक दिशा को छोड़कर अन्य सब दिशाओं में कंपित होने वाली प्रकाश किरणें रुक जाएंगी, उस पट्टी में से गुज़र नहीं पाएंगी। इसलिए इस फिल्म में से गुज़रकर दूसरी ओर बाहर निकलने वाले प्रकाश में केवल एक विशेष दिशा में कंपित होने वाली प्रकाश किरणें ही बचेंगी। इसे ध्रुवीकृत प्रकाश कहते हैं – और इसमें विद्युतीय क्षेत्र के कंपन की दिशा और प्रकाश के गमन की दिशा, ध्रुवीकरण की सतह परिभाषित करते हैं। (चित्र-1)

द्रव में भी क्रमबद्धता

द्रवीय रवों की ओर लौटते हुए, उनके प्रकाशकीय गुणधर्म समझने के लिए हमें एक और जानकारी की ज़रूरत होगी। द्रवीय रवों में उपस्थित अणु लंबे होते हैं, यानी उनकी लम्बाई, चौड़ाई की तुलना में कहीं अधिक होती है। यहां की चर्चा के उद्देश्य से हम उन्हें छड़नुमा मान सकते हैं? चकतीनुमा अणुओं से बने द्रवीय रवे भी पाए जाते हैं परन्तु हम उनकी चर्चा यहां नहीं करेंगे।

ठोस रवे की अवस्था में ये छड़नुमा अणु एक ही दिशा में चिन्हित करते हुए व्यवस्थित रूप से जमे होते हैं। जब ये रवे पिघलते हैं तो अणु अपने स्थान से तो इधर-उधर हो जाते हैं परन्तु वे फिर भी इसी दिशा विशेष की तरफ चिन्हित करते रहते हैं। यही है रवे की द्रवीय अवस्था यानी 'लिक्विड क्रिस्टल फेज़'; अणुओं के इस विशेष दिशा में जमे हुए होने के कारण ही द्रवीय-रवे सामान्य द्रवों से

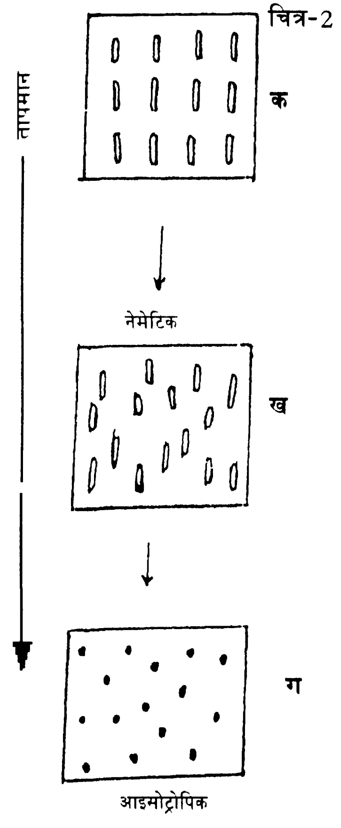

द्रवीय रवों में उपस्थित अणु लंबे अर्थात छड़नुमा होते हैं, यानी उनकी लम्बाई, चौड़ाई की तुलना में कहीं अधिक होती है। **क.** ठोस रवे की अवस्था में ये छड़नुमा अणु एक ही दिशा में चिन्हित करते हुए व्यवस्थित रूप से जमे होते हैं। **ख.** जब ये रवे पिघलते हैं तो अणु अपने स्थान से तो इधर-उधर हो जाते हैं परन्तु वे फिर भी इसी दिशा विशेष की तरफ चिन्हित करते रहते हैं। यही है रवे की द्रवीय अवस्था यानी 'लिक्विड क्रिस्टल फेज़' या 'नेमेटिक फेज़'; अणुओं के इस विशेष दिशा में जमे हुए होने के कारण ही द्रवीय-रवे सामान्य द्रवों से फर्क गुणधर्म दर्शाते हैं।

ग. अगर इन्हें और गर्म करें तो अणुओं के अक्ष की दिशा में भी परिवर्तन होने लगते हैं जिससे उनका दिशाबद्ध क्रम बिखर जाता है और हमें समदिक या आइसोट्रोपिक द्रव मिल जाता है जो कोई भी दिशा विशेष गुण प्रदर्शित नहीं करता।

फर्क गुणधर्म दर्शाते हैं।

अगर आप इन्हें और गर्म करें तो अणुओं के अक्ष की दिशा में भी परिवर्तन होने लगते हैं जिससे उनका दिशाबद्ध क्रम बिखर जाता है और हमें समदिक द्रव (Isotropic liquid) मिल जाता है। (चित्र-2)

ध्रुवीकृत प्रकाश इन द्रवीय रवों में अलग-अलग गति से गमन करता है। गति कितनी होगी यह इस बात पर निर्भर करता है कि अणुओं के जमाव की दिशा क्या है। इस अवस्था में एक

चित्र-3

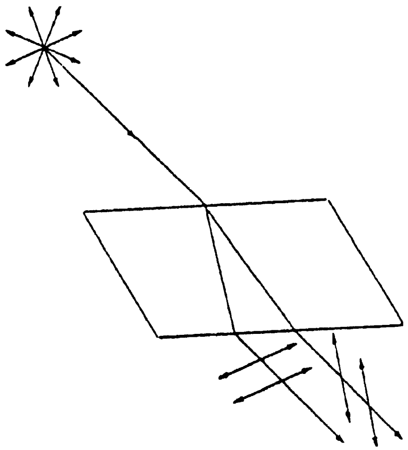

द्विअपवर्तन: द्रवीय रवों में एक और गुणधर्म होता है कि यदि ध्रुवीकृत प्रकाश की दिशा, अणुओं के जमाव की दिशा के समानांतर या उसके लंबवत नहीं होती तो प्रकाश दो किरणों में बंट जाता है। बंटने वाली इन दो प्रकाश किरणों में से एक का ध्रुवीकरण अणुओं के जमाव की दिशा में होता है और दूसरी का ध्रुवीकरण उससे लंबवत दिशा में। यही द्विअपवर्तन कहलाता है।

और गुणधर्म होता है कि यदि ध्रुवीकृत प्रकाश की दिशा, अणुओं के जमाव की दिशा के समानांतर या उसके लंबवत नहीं होती तो प्रकाश दो किरणों में (किरण पुंजों में) बंट जाता है। बंटने वाली इन दो प्रकाश किरणों में से एक का ध्रुवीकरण अणुओं के जमाव की दिशा में होता है और दूसरी का ध्रुवीकरण उससे लंबवत दिशा में। किसी पदार्थ में इन दोनों गुणधर्मों का एकसाथ होना ही द्विअपवर्तन (birefringence) कहलाता है। (चित्र-3)

दिशा में घुमाव

अणु किस दिशा में क्रमबद्ध होंगे यह आप कैसे तय कर सकते हैं? इतना मुश्किल नहीं है यह। अगर आप एक कांच की साफ पट्टी लें, उसे कपड़े या कागज़ से किसी दिशा विशेष में घिस लें और फिर उस पर द्रवीय रवों की एक बूंद टपकाएं – तो द्रवीय रवों के अणु उस दिशा में जम जाएंगे जिस दिशा में आपने पट्टी को घिसा/रगड़ा था। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि घिसने से कांच की पट्टी पर अत्यन्त

बारीक खांचे बन जाते हैं, और अणु उनमें आसानी से जम जाते हैं, बैठ जाते हैं। एक बार अणुओं की एक तह इस तरह दिशा-विशेष में जम गई तो उनके ऊपर की परतें भी उसी दिशा में क्रमबद्ध होने लगती हैं और ऐसा कई परतों तक चलता रहता है। यह भी द्रवीय रवों की एक खासियत है।

अब अगर आप एक और घिसी हुई कांच की पट्टी लें और उसे इस बूंद के ऊपर इस तरह रख दें कि घिसाव की दिशा पहली पट्टी की घिसाव की दिशा के लंबवत हो तो हमें एक तरह की रस्सी की घुमावदार सीढ़ी जैसी रचना मिल जाती है। अब अगर आप दो ध्रुवीकृत पट्टियां इनके ऊपर और नीचे रखें जिनका अक्ष कांच की पट्टियों के घिसाव की दिशा से मेल खाता हो तो हमें एक ऐसा उपकरण मिलता है जिसे 'घुमावदार नेमेटिक सैल' (twisted nematic cell) कहते हैं।

इस व्यवस्था में एक तरफ से घुसने वाले प्रकाश का ध्रुवीकरण पहली कांच की पट्टी से चिपके हुए अणुओं की दिशा में होगा। अगर द्रवीय रवों की परत में अणुओं का घुमाव कम है यानी उस सीढ़ीनुमा संरचना में घुमाव कम है तो घुसने वाला ध्रुवीकृत प्रकाश भी इनके साथ-साथ मुड़ता जाएगा; और दूसरी कांच की पट्टी में से निकलते हुए ध्रुवीकृत प्रकाश का अक्ष

चित्र-4

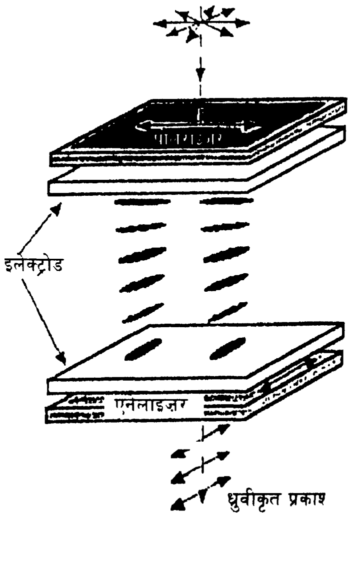

यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें एक तरफ से घुसने वाले प्रकाश का ध्रुवीकरण पहली कांच की पट्टी से चिपके हुए अणुओं की दिशा में होगा। चूंकि दोनों पट्टिओं के बीच मौजूद द्रवीय रवों की परत में अणुओं का घुमाव कम है यानी सीढ़ीनुमा संरचना में घुमाव कम है इसलिए घुसने वाला ध्रुवीकृत प्रकाश भी इनके साथ-साथ मुड़ता जाएगा; और दूसरी कांच की पट्टी में से निकलते हुए ध्रुवीकृत प्रकाश का अक्ष दूसरे पोलेरॉयड के अक्ष के समान्तर होगा। यानी कि दोनों पोलेरॉयड का अक्ष एक दूसरे के लंबवत होने के बावजूद, इस व्यवस्था में से प्रकाश बिना किसी समस्या के गुज़र सकता है।

दूसरे पोलेरॉयड के अक्ष के समान्तर होगा। यानी कि इस व्यवस्था में से प्रकाश बिना किसी समस्या के गुज़र सकता है।

लिक्विड क्रिस्टल डिस्प्ले

आपको याद होगा कि कोई ध्रुवीकृत पट्टी अपने से लंबवत दिशा में ध्रुवीकृत प्रकाश को गुज़रने नहीं देती। चूंकि ऊपरी व्यवस्था में (उपकरण में) ऐसा नहीं हो रहा इसलिए अगर आप इस सैल/कोष को देखेंगे तो यह चमकदार नज़र आएगा। (चित्र-4)

अगर हम द्रवीय रवों की एक और विशेषता समझ लें तो फिर उसके बाद हम समझ सकते हैं कि L.C.D. स्क्रीन काम कैसे करती है। समझना यह है कि अगर इन दोनों पट्टियों के बीच विद्युत विभवांतर (Electric potential difference) पैदा कर दिया जाए तो उसका क्या असर होगा? लिक्विड क्रिस्टल डिस्पले स्क्रीन में इस्तेमाल की जाने वाली पट्टियों पर मेटल ऑक्साइड की महीन परत चढ़ा दी जाती है। यह इतनी महीन होती है कि इसके बावजूद पट्टियां पारदर्शी बनी रहती हैं।

किसी बैटरी या सैल के दोनों ध्रुवों से स्विच के ज़रिए परिपथ बनाकर इन दोनों पट्टियों को जोड़ देते हैं। अब अगर आप स्विच चालू कर दें तो इस उपकरण में दोनों पट्टियों के बीच एक विद्युत क्षेत्र स्थापित हो जाएगा। अगर विभवांतर एक हद से ज़्यादा है तो अणु इस विद्युत क्षेत्र की दिशा में जम पाएंगे, क्रमबद्ध हो जाएंगे।

याद रखिए कि यह विद्युत क्षेत्र कांच की पट्टी के लंबवत है। ऐसी हालत में चूंकि कांच की पहली पट्टी में से गुज़रने वाला प्रकाश अणुओं के जमाव की दिशा में कोई घुमाव नहीं पाता (वे सब ध्रुवीकरण की दिशा के लंबवत हैं) इसलिए शुरुआती ध्रुवीकरण की दिशा बनाए रखते हुए यह प्रकाश दूसरी कांच की पट्टी तक पहुंचता है। वहां पर इसे दूसरा पोलेरॉयड मिलता है जिसकी ध्रुवीकरण की दिशा प्रकाश के ध्रुवीकरण की दिशा से लंबवत है – इसलिए प्रकाश उसमें से गुज़र नहीं पाता और यह उपकरण प्रकाश के प्रति अपारदर्शी हो जाएगा।

अगर आप विद्युत परिपथ बंद कर दें (ऑफ कर दें), तो अणु फिर से शुरुआती घुमावदार सीढ़ी जैसी ध्रुवीकृत अवस्था में व्यवस्थित हो जाते हैं और यह उपकरण फिर से चमकने लगता है! इस तरह हमने पट्टियों के इस उपकरण को अपारदर्शी और पारदर्शी बनाने का तरीका ढूंढ लिया है। इसके आधार पर हम ऐसे बहुत सारे 'कोष' साथ-साथ जमा सकते हैं और ऐसी विद्युत परिपथ व्यवस्था बना

सकते हैं जिससे उनमें से प्रत्येक में, स्वतंत्र रूप से विद्युत क्षेत्र को चालू या बंद करना हम नियंत्रित कर सकें। इसमें सेल के पीछे प्रकाश की व्यवस्था करना भी ज़रूरी नहीं है, क्योंकि उसके बजाए हम एक दर्पण रखकर काम चला सकते हैं, जिससे हमें सेल से गुज़रने के बाद परावर्तित प्रकाश किरणें दिखेंगी।

इस सब जानकारी के आधार पर सोचने की कोशिश कीजिए कि 'लिक्विड क्रिस्टल डिस्प्ले' काम कैसे करता होगा? अपने आसपास पाई जाने वाली ज़्यादातर घड़ियों और केल्क्यूलटर म अक व अन्य
प्रदर्शित करने के लिए ऐसी ही व्यवस्था होती है।

किसी भी L.C.D. स्क्रीन में इस तरह के अनेकों कोष व्यवस्थित रूप से जमे होते हैं। सेल को स्वतंत्र रूप से ऑन/ऑफ किया जा सकता है। रंगीन दृश्य प्राप्त करने के लिए हमें हर कोष को तीन हिस्सों में विभाजित करना होगा, जिसमें से हरेक हिस्से में एक प्राथमिक रंग होगा। जब भी कोष के किसी हिस्से को ऑन किया जाए तो उसके पीछे का रंग दिखाई देगा। प्रत्येक कोष में पाए जाने वाले इन तीन रंगों के मिश्रण से हम जो भी चाहें वो रंग मिल सकता है। आजकल कम्प्यूटर मॉनीटर या टी.वी. स्क्रीन में पाई जाने वाली L.C.D. डिस्प्ले इससे और भी ज़्यादा जटिल होती है। उसकी चर्चा फिर कभी।

सुनील कुमार: आई आई टी चैन्नई में पढ़ाते हैं।
हिन्दी अनुवाद: **राजेश खिंदरी।**
यह लेख जंतर-मंतर पत्रिका के जुलाई-अगस्त, 2003 अंक से साभार।

के एक ... भी अपने
... में मशगूल हैं।

सवालीराम

पारस पत्थर से कीमियागरी तक

सवाल: पारस पत्थर क्या है? क्या सचमुच यह लोहे को सोना बना देता है?

जवाब: वैसे दो टूक जवाब यही होगा कि पारस पत्थर एक कल्पना है। सचमुच ऐसा कोई पारस पत्थर नहीं होता जिसे छूलाने से लोहा या ऐसी कोई धातु सोने जैसी धातु में तब्दील हो जाती हो।

परन्तु प्रचलित मान्यता यह है कि पारस पत्थर कुदरती तौर पर धरती में कहीं पाया जाता है। इस पत्थर से किसी धातु को छुआने पर वह धातु सोने में तब्दील हो जाती है। फिर भी यह जानना रोचक होगा कि पारस पत्थर के बारे में ऐसा विश्वास किस तरह आया और इसका फैलाव दुनिया भर में किस तरह होता गया। दुनिया की प्राचीन नगरीय सभ्यताओं (जैसे सिंधु घाटी सभ्यता आदि) से भी पहले से ही इंसान सोने का इस्तेमाल करता रहा है। सोना एक ऐसी धातु है जो शुद्ध रूप में प्रकृति में मिल जाती है व जिसका ऑक्सीकरण सामान्य परिस्थितियों में आसानी से नहीं होता। कई नदियों की रेत में सोने की अल्प मात्रा मिलती है जिसे लोग बाकी रेत कणों से अलग कर प्राप्त करते रहे हैं। सोने के साथ एक और महत्वपूर्ण तथ्य जुड़ा है कि वह प्रकृति में काफी कम मात्रा में पाया जाता है। एक मोटे अनुमान के मुताबिक पृथ्वी की ऊपरी परत (क्रस्ट) में सोना 0.004 ग्राम प्रति टन मिलता है।

शुरुआती रसायनविद

प्राचीन काल से ही धातु कर्मियों व कारीगरों की एक जमात विभिन्न धातुओं को मिलाकर मिश्र धातुओं को बनाने के प्रयास में जुटी हुई थी। इन लोगों को हम शुरुआती रसायनविद कह सकते हैं। शायद यहीं कहीं से साधारण धातुओं से सोना बनाने का ख्याल उभरा होगा। प्राचीन सभ्यताएं सोने को बेशकीमती तो मानती ही थीं, साथ ही इसे सर्वोत्तम धातु भी माना जाता था।

यहीं से अलकेमी या कीमियागरी की नींव पड़ी। अलकेमी का प्रमुख उद्देश्य था – साधारण धातुओं को सोने में बदलना। अलकेमी शब्द वैसे तो अरबी मूल का शब्द है लेकिन यह बता पाना कठिन है कि यह कहां से

आया है। इस शब्द के बारे में एक अनुमान यह है कि अरब लोग इसे 'खेम की कला' कहते थे और अरब लोग मिस्र को 'खेम' नाम से पुकारते थे। अलकेमी शब्द के बारे में एक अन्य व्याख्या के मुताबिक यह ग्रीक शब्द Chymia से निकला है जिसके मायने हैं – धातुओं को गलाने और धातुओं के मिश्रण की कला।

अरस्तू का दर्शन

ग्रीक के दार्शनिक अरस्तू की मान्यताओं के हिसाब से प्रकृति में पाए जाने वाले समस्त पदार्थ चार मूल तत्वों – आग, हवा, पानी और धरती से मिलकर बने हैं। इन चारों तत्वों की फितरत भी फर्क होती है। हरेक पदार्थ में इन मूल तत्वों की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। अरस्तू के मुताबिक आग को हवा में, हवा को पानी में, पानी को धरती में बदला जा सकता है। इसी तरह किसी धातु का इस तरह से उपचार किया जाए और उसमें इन मूल तत्वों की मात्रा में इस तरह बदलाव किया जाए कि वह सोने के मूल तत्वों की मात्रा से मेल खाए तो साधारण धातु को भी सोने में तब्दील किया जा सकता है। अरस्तू का यह दर्शन कीमियागरों के लिए मार्गदर्शन बन गया। अरस्तू के विचार इस तरह स्थापित हो गए थे कि अगली कई शताब्दियों तक इन्हें किसी ने चुनौती नहीं दी।

ईसा की पहली सदी तक आते-आते अलकेमी शुद्ध धातु संबंधी विज्ञान न रहकर इसमें ज्योतिष, रहस्यमयी विचार, जादू-टोना, आध्यात्म आदि भी जुड़ता चला गया। यही नहीं, उस समय तक विज्ञान और जादू में कोई स्पष्ट विभाजन रेखा भी स्थापित नहीं हो पाई थी। इस दौर में अलकेमी का एक और उद्देश्य सामने आया – इंसानी शरीर को रोगों से मुक्त कर अमरत्व प्रदान करना। कोशिश यह थी कि विविध रासायनिक क्रियाओं से वह रहस्यमयी पदार्थ प्राप्त किया जाए जिसे लोहे या ऐसी किसी धातु में मिलाने पर वह धातु तो सोना बन ही जाए और उसे दवा की तरह पीने पर शरीर अमर हो जाए। उस रहस्यमयी पदार्थ को फिलॉसॉफर स्टोन, दार्शनिक पत्थर, पारस पत्थर आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता था।

भारत, चीन, मिस्र, ग्रीक एवं कई यूरोपीय देशों में सैंकड़ों वर्षों तक लोग पूर्ववर्ती मान्यताओं पर यकीन करते हुए पारस पत्थर की खोज में विविध पदार्थों के गुणों को पहचानने की कोशिश में पदार्थ के पृथक्करण, गर्म करने, ठंडा करने, वाष्पीकरण, उर्ध्व-पातन, गलाने, निथारने, आसवन, सुखाने जैसी कई गतिविधियां करते थे। कई कीमियागर अपने प्रयोगों के ब्यौरे भी लिखते थे। हालांकि ये ब्यौरे

अधः पातनयंत्र

कोष्ठीयंत्र

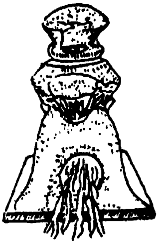

स्वेदनीयंत्र

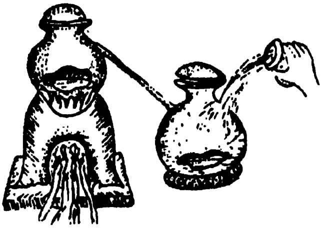

तिर्यकपातनयंत्र

भारत के कीमियागरों द्वारा प्रयोगशाला में इस्तेमाल किए जाने वाले उपकरण

सांकेतिक भाषा में होते थे फिर भी इनमें रसायन विज्ञान को आसानी से खोजा जा सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक रसायन विज्ञान को कई तरह की जानकारी और सामग्री कीमियागरों ने ही दी है।

भारत में कीमियागरी

भारत में कीमियागरी की शुरुआत पहली-दूसरी सदी में हुई। धीरे-धीरे कीमियागरों के कई दल बन गए। उस समय कीमियागरी से संबंधित कई ग्रंथ लिखे गए। इन ग्रंथों में सोना बनाने की विविध रासायनिक विधियां दी गई थीं। इनमें आठ महारसों का इस्तेमाल किया जाता था। जैसे चांदी से सोना बनाने के लिए पीले गंधक को पलाश की गोंद के रस से शोधित किया जाए, फिर गंधक और चांदी को कंडों की आग पर तीन बार पकाया जाए तो कृत्रिम सोना बन सकता है। इसी तरह तांबे को सोने में बदलने की विधि भी बताई गई है। यहां कृत्रिम सोने का अर्थ है सोने के रंग जैसी धातु।

आठवीं सदी के एक अन्य भारतीय ग्रंथ 'रसहृदय' में 18 रसकर्मों की जानकारी दी गई है। इस ग्रंथ में पारे में सोने का रंग पैदा करने की विधियां दी गई हैं। ऐसे ही एक ग्रंथ 'रसरत्न समुच्च' (13वीं से 15वीं सदी) में पारे के दोषों को दूर करने की कई विधियां दी गई हैं, साथ ही रसकर्म (कीमियागरी) के उपयोग में आने वाले उपकरणों का विस्तृत वर्णन है।

और यूरोप में . . .

यदि यूरोपीय जगत पर नज़र डाली जाए तो 13वीं सदी के अलकेमिस्टों ने अपनी विधियों को चमत्कार की तरह पेश नहीं किया। वे मानते थे कि ये क्रियाएं प्रकृति में सदा चलती रहती हैं। अलकेमिस्ट इन क्रियाओं को प्रयोग शालाओं में दोहराना चाहते थे। इस समय तक लोगों को भी यह बात समझ में आने लगी थी कि अलकेमिस्टों के पास जो साधन हैं वे सोना बनाने जैसे कामों के लिए पर्याप्त नहीं हैं। यह भी माना जाने लगा कि जो कृत्रिम धातुएं बनाई गई हैं वे प्राकृतिक धातुओं के समान नहीं थीं। जैसे चांदी से बनाई गई सोने जैसी धातु रासायनिक दृष्टि से प्राकृतिक सोने जैसी नहीं थी। यह बात भी धीरे-धीरे साफ होने लगी थी कि अलकेमी धातु परिवर्तन नहीं कर सकती, मात्र नकल कर सकती है। उदाहरण के लिए किसी धातु को सफेद या पीला कर उसे चांदी या सोना नहीं बनाया जा सकता। अलकेमिस्टों द्वारा बनाए गए सोने के परीक्षण में यह पाया गया कि यह कृत्रिम सोना 6-7 बार आग पर गर्म करने के बाद सोने जैसा दिखना भी बंद हो जाता है।

अलकेमी के इतिहास में 16वीं सदी में एक नया मोड़ आता है जब ज्यूरिख निवासी पेरासेल्सस ने घोषणा की कि उसका उद्देश्य सोना बनाना नहीं है। वह इंसानी शरीर को रोग मुक्त रखने के लिए दवाइयां बनाना चाहता है। पेरासेल्सस यह मानता था कि अलकेमी का प्रमुख लक्ष्य दवाओं को तैयार करने की विधियों की खोज होना चाहिए। वह यह भी कहता था कि हो सकता है अलकेमी से सोना बनाना भी मुमकिन हो लेकिन यह एक गौण लक्ष्य होना चाहिए। इस घोषणा के बाद अलकेमी में एक नया अध्याय शुरू हुआ जिसमें रसायन की खोजों से चिकित्सा में सहयोग लिया जाने लगा; पदार्थों के गुण और मानव शरीर पर उनके प्रभावों के अध्ययन पर ज़ोर दिया जाने लगा।

20वीं सदी में

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में पदार्थों के भौतिक और रासायनिक गुणों का भली-भांति अध्ययन किया जाने लगा। तत्वों की खोज, आवर्त्त तालिका, इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन

आखिरी सिक्का: अलकेमी काफी खर्चीला काम था। यदि सोना बनाने के इस काम के लिए राजकीय या किसी धनी व्यक्ति ने वित्तीय सहायता दी हो तब तो विशेष चिंता की बात नहीं थी। लेकिन अधिकांश अलकेमिस्ट अपनी पूंजी लगाकर साधारण धातु से सोना बनाने की जुगत में अपनी सारी उम्र खपा देते थे। यहां एक मध्यकालीन अलकेमिस्ट और उसकी दुखी पत्नी को दिखाया गया है। अलकेमिस्ट मियां ने अपनी सारी पूंजी इस खोज में लगा दी, फिर पत्नी के पास मौजूद सोने के सिक्कों की बारी आई। इस चित्र में पत्नी अपने पास का आखिरी सोने का सिक्का दे रही है। ज़मीन पर पड़ा खाली बटुआ भी दिखाई दे रहा है। इस सिक्के को गंवाने का दुख उसके चेहरे पर साफतौर पर देखा जा सकता है। और मियां शायद उसे दिलासा दे रहे हैं। उस दौर में अलकेमिस्टों की फटेहाल बीवियों और भूखे बच्चों के कई ब्यौरे मिलते हैं।

व रेडियो एक्टिव तत्वों की खोज हुई, अल्फा, बीटा, गामा कणों के बारे में विस्तार से जानकारियां मिलीं। पदार्थों के बारे में इतना कुछ जानने के बाद कीमियागरों के सोना बनाने की क्षमताओं पर किसी को यकीन नहीं रहा। बीसवीं सदी में रेडियो सक्रिय तत्वों के अध्ययन के साथ यह बात समझ में आई कि किसी तत्व के नाभिक से अल्फा कणों के बाहर निकल जाने से एक नया तत्व निर्मित होता है। उदाहरण के लिए यूरेनियम जिसमें

92 प्रोटॉन होते हैं, उसके नाभिक में से एक अल्फा कण निकल जाए तो यूरेनियम के नाभिक में दो प्रोटॉन कम हो जाते हैं; यानी अब 90 प्रोटॉन बच जाते हैं और यूरेनियम थोरियम में तब्दील हो जाता है। इस थोरियम के नाभिक में 90 प्रोटॉन और 144 न्यूट्रॉन होते हैं। इसी तरह बीटा कणों के बाहर निकलने से भी नया तत्व बनता है। एक तत्व से दूसरे तत्व के बनने को ट्रांसम्यूटेशन कहते हैं। प्रकृति में भी यह क्रिया चलती रहती है लेकिन धीमी गति से।

रेडियो एक्टिविटी, आइसोटॉप्स और परमाणु के नाभिक की समझ बढ़ने के साथ एक बात साफ हो गई कि पिछले दो हज़ार साल तक अलकेमिस्टों ने जो कुछ किया उससे सीसे से या लोहे से सोना क्यों नहीं बन सकता था। वास्तव में अलकेमिस्ट जो रासायनिक क्रियाएं कर रहे थे उनसे परमाणु के नाभिक में कोई बदलाव नहीं हो रहा था। ये सभी क्रियाएं परमाणु की सबसे बाहरी कक्षा के इलेक्ट्रॉन के साथ हो रही थीं। साधारण रासायनिक क्रियाओं से सीसे से सोना बना पाना मुमकिन नहीं था। हां, सोने की पॉलिश ज़रूर चढ़ाई जा सकती थी। लेकिन कीमियागरों की कोशिशों को कमतर आंकना बिल्कुल भी उचित नहीं होगा।

1919 में रदरफोर्ड ने जब प्रयोग शाला में नाइट्रोजन को ऑक्सीजन में तब्दील किया तो अलकेमिस्टों में नया जोश आ गया। इस प्रयोग में रदरफोर्ड ने नाइट्रोजन के नाभिक पर अल्फा कणों की बौछार की थी और नाइट्रोजन से ऑक्सीजन बनाकर दिखाया था।

रदरफोर्ड के प्रयोग से प्रेरणा लेने वालों में से जर्मनी का फ्रेंज़ टाउसेंड प्रमुख था। वह म्यूनिख में रसायन सहायक के ओहदे पर काम कर रहा था। उसे यकीन था कि साधारण धातुओं से सोना बनाया जा सकता है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जब हिटलर जेल में था तो नाज़ी पार्टी के लिए चंदा जुटाने का काम वॉन ल्यूडेनड्रॉफ के कंधों पर आया था। वॉन ने भी फ्रेंज़ के बारे में काफी कुछ सुन रखा था। उन दिनों म्यूनिख में यह खबर थी कि फ्रेंज़ ने सोना बनाने में सफलता प्राप्त की है। ऐसा कहा जाता था कि फ्रेंज़ ने आयरन ऑक्साइड और क्वार्ट्ज़ के मिश्रण से सोना बनाने की विधि खोज निकाली है। ल्यूडेनड्रॉफ ने एक कम्पनी की स्थापना की। इसका नाम था कंपनी-164। वह इस कंपनी का प्रमुख था और कंपनी के लाभ का 75 प्रतिशत का हिस्सेदार भी। फ्रेंज़ इस कंपनी में 5 प्रतिशत का भागीदार था। फ्रेंज़ के लिए एक बड़ी प्रयोगशाला मुहैया करवाई गई। कंपनी बड़े पैमाने पर सोना बनाकर भारी मुनाफा कमाने

सोने से पारा बनाया गया

शायद इस खबर को सुनकर कीमियागर खुश नहीं होंगे क्योंकि यह खबर उनके सपने से एकदम विपरीत जो है। पिछले दिनों ग्लासगो के स्ट्रेटलाइड विश्वविद्यालय के केन लेडिंगहेम ने बताया कि उन्होंने सोने को पारे में बदलने में कामयाबी हासिल की है।

इस प्रयोग की खासियत यह थी कि सोने से पारा बनाने के लिए लेज़र किरणों की मदद ली गई थी। इस प्रयोग में प्रयुक्त लेज़र उपकरण का नाम वल्कन था, जो आकार में काफी विशाल था – किसी छोटी-मोटी इमारत की तरह। लेडिंगहेम के साथियों ने सोने के परमाणुओं में प्रोटॉन डालकर पारे के परमाणु बना लिए।

इस प्रयोग की सफलता के बाद यह उम्मीद जागी कि क्या परमाणु भट्टियों से निकलने वाले रेडियोधर्मी कचरे को भी किसी सुरक्षित पदार्थ में बदला जा सकता है। लेज़र किरणों से एक तत्व से दूसरा तत्व बनाने में काफी ऊर्जा खर्च होती है। यहां ऊर्जा का अनुमान इस तरह से लगा सकते हैं कि एक परमाणु बिजलीघर के कचरे को निपटाने के लिए एक और बिजलीघर चाहिए होगा! ऊर्जा की विशाल खपत को देखते हुए निकट भविष्य में इस तकनीक के इस्तेमाल की संभावना थोड़ी कम ही है।

वाली थी। जल्द ही प्रचार-प्रसार के ज़रिए कंपनी ने निवेशकों को खूब आकर्षित किया। कंपनी अपने निवेशकों को शेयर के बदले काफी सोना देने वाली थी। शेयरों के बदले सोना पाने की चाहत में बहुत से लोगों ने इस कंपनी में निवेश किया। ल्यूडेनड्रॉफ ने जल्द ही एक मोटी रकम नाज़ी पार्टी फंड में डाली। 1926 में ल्यूडेनड्रॉफ ने कंपनी प्रमुख के पद से इस्तीफा देकर सारे अधिकार फ्रेंज़ को सौंप दिए। फ्रेंज़ प्रयोगशाला में लगातार काम करता रहा, लेकिन जल्द ही यह साफ हो गया कि कंपनी अपने निवेशकों को वायदे के मुताबिक सोना देने में असमर्थ है। फ्रेंज़ को दगाबाज़ी के अपराध में गिरफ्तार किया गया और चार साल कारावास का दंड दिया गया।

यहां इस किस्से का ज़िक्र सिर्फ यह संकेत देने के लिए किया जा रहा है कि अभी भी सोने को लेकर लोग दीवाने हैं। साथ ही रसायन विज्ञान की इतनी तरक्की के बावजूद आज भी काफी लोगों को यह यकीन है कि पारस पत्थर जैसी कोई चीज़ होती है जिससे सोना बनाया जा सकता है।

वृद्धि

जे. बी. एस. हाल्डेन

अब तक मैंने वृद्धि के बारे में कुछ नहीं कहा है। यह किस्सा भी बहुत ही दिलचस्प है क्योंकि एक अकेली कोशिका से पूरे वयस्क इंसान का विकास इस बात पर निर्भर है कि विभिन्न हिस्सों की वृद्धि दर फर्क होती है। उदाहरण के लिए, जब आप करीब तीन महीने के थे, यानी जन्म से लगभग 6 महीने पहले, तब आपके न हाथ थे, न पैर जबकि सिर, धड़ और एक पूंछ ज़रूर थी। उस समय आपके धड़ के चार बिन्दुओं की कोशिकाएं अपनी पड़ोसी कोशिकाओं के मुकाबले कहीं तेज़ी से विभाजित होने लगती हैं। इसी के फलस्वरूप आपकी भुजाएं कलिकाओं के रूप में नज़र आने लगती हैं। इसके बाद आपकी पूंछ की वृद्धि धीमी पड़ जाती है, और अंततः यह आसपास की कोशिकाओं की वृद्धि से ढक जाती है। पूंछ तो आपके शरीर में अब भी है, कंकाल की जांच करने पर इसे देखा जा सकता है। आपके जन्म के बाद से आपका सिर बहुत ज़्यादा नहीं बढ़ा है। इसके विपरीत आपका धड़ काफी बढ़ा है और हाथ-पैर तो और भी

ज़्यादा बढ़े हैं। यदि सारे अंग एक-सी गति से बढ़ते तो एक बड़े सिर और ठूंठ जैसे हाथ-पैर वाले राक्षस का रूप बन जाता।

वृद्धि: ज़रूरतें अलग-अलग

अलबत्ता अन्य जंतुओं में मामला थोड़ा अलग होता है। मसलन, शरीर की तुलना में देखें तो किसी नवजात बछड़े या अश्वशावक (टट्टू) की टांगें तुलनात्मक रूप से गाय या घोड़े की अपेक्षा ज़्यादा लंबी होती हैं। इसका मतलब यह है कि आने वाले समय में इनमें टांगों की वृद्धि धड़ की अपेक्षा धीमी होती है। जाहिर है कि यह बात ऐसे जानवरों के लिए फायदेमंद होगी जिन्हें जन्म के कुछ ही दिनों बाद दौड़-भाग शुरू कर देना पड़ती है। पहेली तो यह पता लगाने की है कि यह फायदेमंद स्थिति हासिल किस तरह होती है।

यदि आप वयस्क हैं तो आपके कुछ ही अंगों की कोशिकाएं विभाजित हो रही हैं। आपकी चमड़ी, बालों और नाखूनों समेत, लगातार नई बनती रहती है। यही स्थिति आंतों जैसे अंदरूनी अंगों में भी होती है। और खून की कोशिकाएं भी लगातार नई-नई बनती रहती हैं। शायद आपको लगे कि शरीर के शेष भागों में वृद्धि की क्षमता नहीं बची है। ऐसा नहीं है। आपकी कोई भी चोट ठीक हो जाती है सिर्फ चमड़ी की ही नहीं बल्कि अधिकांश आंतरिक अंगों की चोट भी ठीक हो जाती है। टूटी हड्डियां जुड़ जाती हैं। हां इतना ज़रूर है कि बच्चों की अपेक्षा वयस्कों में ज़्यादा समय लगता है।

कभी-कभी चमड़ी पर या शरीर के अंदर कोई फुंसी हो जाती है। कभी-कभी कुछ कोशिकाएं बेलगाम वृद्धि करने लगती हैं और शरीर के अन्य अंगों में पहुंचने लगती हैं। यदि इन कोशिकाओं को हटाया न जाए या एक्स-रे या रेडियम की मदद से न मारा जाए, तो हो सकता है कि आपको कैंसर हो जाए जो जानलेवा भी हो सकता है। कैंसर की समस्या का समाधान तब हासिल होगा जब हम यह समझ लें कि शरीर की अधिकांश कोशिकाएं निर्धारित समय पर विभाजन क्यों बंद कर देती हैं। हमें यह भी समझना होगा कि वृद्धि का नियमन कैसे होता है; कि एक शिशु के शरीर का प्रत्येक अंग एक विशेष दर से बढ़ता है और एक सामान्य वयस्क तैयार होता है। मेंढक, न्यूट व अन्य जंतुओं के अंडों पर किए प्रयोगों से इसके बारे में हमें थोड़ा-बहुत तो पता है। इन जंतुओं के अंडों में वृद्धि की सामान्य प्रक्रिया में हस्तक्षेप करना अपेक्षाकृत आसान होता है। मसलन, हम जानते हैं कि भ्रूणावस्था में चमड़ी की कुछ कोशिकाएं, आसपास के अंगों

द्वारा बनाए गए कुछ रसायनों के प्रभाव से, तंत्रिका तंत्र की कोशिकाओं में तब्दील हो जाती हैं। यदि न्यूट के विकासमान अंडे की चमड़ी के नीचे कुछ रसायन इंजेक्ट कर दिए जाएं तो चमड़ी तंत्रिका तंत्र में तब्दील हो जाती है। हम यह भी जानते हैं कि किसी घाव के ठीक होते वक्त कोशिकाओं का जो तेज़ी से विभाजन होता है, वह कुछ हद तक घाव के आसपास की मृत कोशिकाओं द्वारा बनाए रसायनों की वजह से होता है। इस प्रक्रिया पर तंत्रिका तंत्र का नियंत्रण नहीं होता क्योंकि ऐसी भुजा के घाव भी ठीक हो जाते हैं जिसकी तंत्रिकाएं काट दी गई हैं। फिलहाल मैं इस समस्या के छोटे-से हिस्से पर काम कर रहा हू। मैं यह समझने की कोशिश कर रहा हूं कि मापन के ज़रिए दो अलग-अलग अंगों की वृद्धि दर की तुलना करने का अच्छा तरीका क्या होगा?

शरीर को जानना क्यों ज़रूरी

बदकिस्मती से, इंसानों की शरीर क्रिया का व्यवस्थित अध्ययन सिर्फ मेडिकल छात्र करते हैं और इस विषय की सारी किताबें उन्हीं के लिए लिखी गई हैं। मुझे लगता है कि सब लोगों को मानव शरीर रचना और शरीर क्रिया के बारे में थोड़ा-बहुत सीखना चाहिए। इसके कई कारण हैं, पहला तो यह है कि इसके बगैर हम प्राथमिक चिकित्सा या स्वच्छता की बातें नहीं समझ सकते जबकि ये तो सबके लिए ज़रूरी है। दूसरा कारण यह है कि जीव-विज्ञान का यही सबसे प्रत्यक्ष तरीका है। आखिर खुद के बारे में जानने से पहले बच्चे पेड़-पौधों और कीड़े-मकोड़ों का अध्ययन क्यों करें?

तीसरा कारण यह है कि (यदि हम कुछ न सीखें तो) यह ज्ञान चिकित्सा व्यवसाय का एकाधिकार बन जाएगा और उत्पादन पर एकाधिकार की तरह ज्ञान पर एकाधिकार भी बुरी बात है। मुझे चिकित्सा-विज्ञान पर बहुत भरोसा है, मगर मैं कदापि नहीं चाहूंगा कि डॉक्टर लोग समाज में वह स्थान हथिया लें जहां मध्य युग में पुरोहित काबिज थे। सार्वजनिक स्वास्थ्य के प्रति कुछ डॉक्टरों का रवैया मुझे 600 साल पहले के पुरोहितों (clergy) के रवैये की याद दिला देता है।

चौथा कारण यह है कि बड़े होते-होते हम सभी प्रजनन की क्रिया के बारे में सीखते ही हैं। मगर इसमें से अधिकांश अंधविश्वास होते हैं, वह भी गंदे किस्म के अंधिविश्वास। इस संदर्भ में स्कूलों के विशेष पाठ असंतोषप्रद हैं। अलबत्ता हम इसके बारे में शरीर व मस्तिष्क के सामान्य अध्ययन के दौरान सीख सकते हैं। जन्म से पूर्व और जन्म के उपरान्त एक शिशु की वृद्धि एक ही प्रक्रिया के दो पहलू हैं। तो दोनों की बात बराबर

सहजता से करने में कोई अड़चन नहीं होना चाहिए और जन्म से पूर्व भी शिशु की देखभाल उतनी ही मुस्तैदी से करने में क्या परेशानी है, जितनी जन्म के बाद की जाती है।

अंततः स्वयं का अध्ययन विज्ञान के दार्शनिक नज़रिए का एक अमूल्य परिचय भी है। शायद ही कोई सोचता हो कि वह एक मशीन है। मगर एक मायने में हम मशीन ही हैं, और एक उतने ही अहम मायने में हम मशीन नहीं भी हैं। अठारवीं सदी के एक पदार्थवादी दार्शनिक डाइडेरॉट और ला मेट्रिक के कई कथन बहुत सही थे, और कई तरह से हम उनके विचारों से भी ज़्यादा मशीन हैं। मगर उनका नज़रिया बहुत एकतरफा था। एक अन्य दार्शनिक हेगल दूसरी अति पर चले गए। मार्क्स और उनके साथ एंजेल्स ने मशीनी और भाववादी मतों को जोड़ने की कोशिश की। हालांकि उनका दर्शन अस्सी साल पुराने विज्ञान पर टिका है और इसमें सुधार की ज़रूरत है, मगर उनके विचार आज भी विज्ञान; खासतौर से जीवन से संबंधित विज्ञान; को समझने का एक कीमती साधन हैं।

जे. बी. एस. हाल्डेन: (1892-1964) प्रसिद्ध अनुवांशिकी विज्ञानी एवं विख्यात विज्ञान लेखक। प्रस्तुत निबंध 1949 में प्रकाशित 'वॉट इज लाइफ' संकलन से लिया गया है।
अनुवाद: सुशील जोशी: एकलव्य की स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं।

संदर्भ सजिल्द उपलब्ध हैं

संदर्भ
अंक 1-6
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

संदर्भ
अंक 7-12
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

संदर्भ
अंक 13-18
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

संदर्भ
अंक 19-25
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

संदर्भ
अंक 26-30
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

संदर्भ
अंक 31-36
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

संदर्भ
अंक 37-42
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

पिछले सात सालों में प्रकाशित समस्त सामग्री संदर्भ की सात सजिल्दों में समेटी गई है।

हरेक सजिल्द के साथ है एक विषयवार इंडेक्स जो किसी भी लेख को तुरंत आपके सामने लाए।

प्रत्येक का मूल्य डाक खर्च समेत 100 रुपए मात्र।

राशि डिमांड ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से भेजें।
ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं।
अधिक जानकारी के लिए जल्द संपर्क करें।

एकलव्य
कोठी बाजार
होशंगाबाद, म. प्र. 461001
फोन: 07574 - 253518

एकलव्य
ई-7/एच.आई.जी. 453, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल, म. प्र. 462016
फोन: 0755 - 2463380

मक्के के फूल

कमलकिशोर कुम्भकार

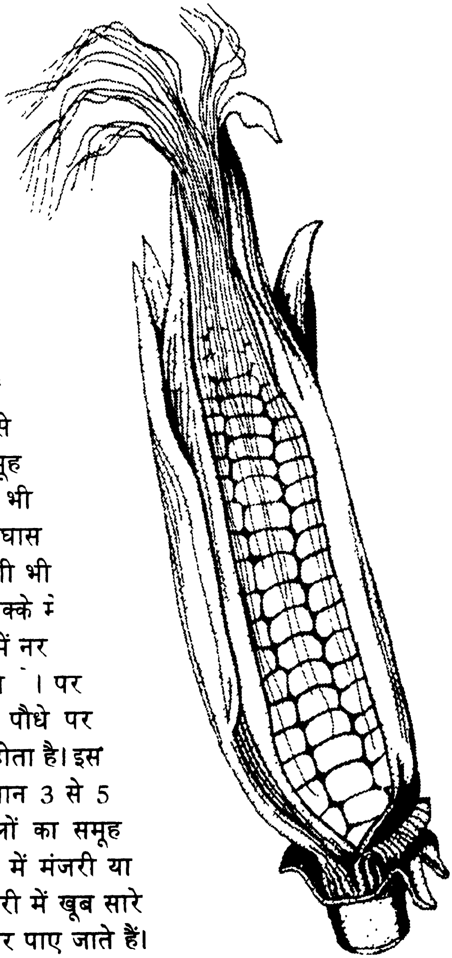

शीर्षक शायद चौंकाने वाला हो क्योंकि गुलाब, रजनीगंधा जैसे फूलों की बात समझ में आती है पर मक्का के फूलों में ऐसी क्या खास बात है! वैसे देखा जाए तो मक्का घास समूह का पौधा है और इसके फूल भी कुछ सूखे-सूखे से ही होते हैं। घास समूह के पौधों के फूल द्विलिंगी भी होते हैं और एकलिंगी भी। मक्के म एकलिंगी फूल मिलते हैं जिसमें नर मादा फूल अलग-अलग होते । पर दोनों तरह के फूल एक ही पौधे पर लगते हैं अत: पौधा द्विलिंगी होता है। इस पौधे के शीर्ष पर ताज के समान 3 से 5 हल्के कत्थई रंग का नर फूलों का समूह होता है। इसे आम बोलचाल में मंजरी या मांजर कहते हैं। इस पूरी मंजरी में खूब सारे नर फूल होते हैं जिनमें पुंकेसर पाए जाते हैं।

यहां तक तो आपने देखा ही होगा पर मादा फूलों पर हमारा ध्यान कम ही जाता है। वास्तव में मक्के के मादा फूल तने के लगभग बीच में एक गठान या जोड़ पर मिलते हैं। ये मादा फूल गठान पर से निकलती एक शाखनुमा रचना पर लगे होते हैं। यहां एक बात गौरतलब है कि मक्के के मादा फूल में प्रमुखतः स्त्रीकेसर ही पाया जाता है। यह मादा फूलों से लदा मोटा अक्ष चारों ओर से मांसल पत्तियों से घिरा होता है। इनमें से बाहर की ओर लटकने वाली जो बारीक-बारीक रेशमी धागों जैसी बारीक रचनाएं दिखती हैं, वे कुछ और नहीं बल्कि स्त्रीकेसर की लम्बी-लम्बी वर्तिकाएं हैं। इसी मोटे

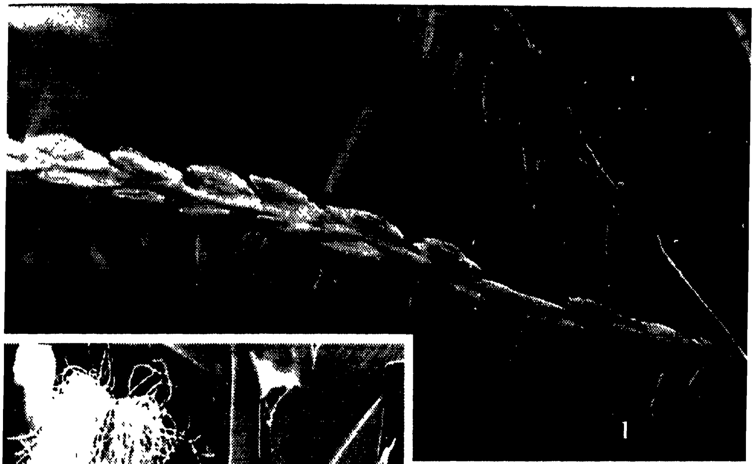

1

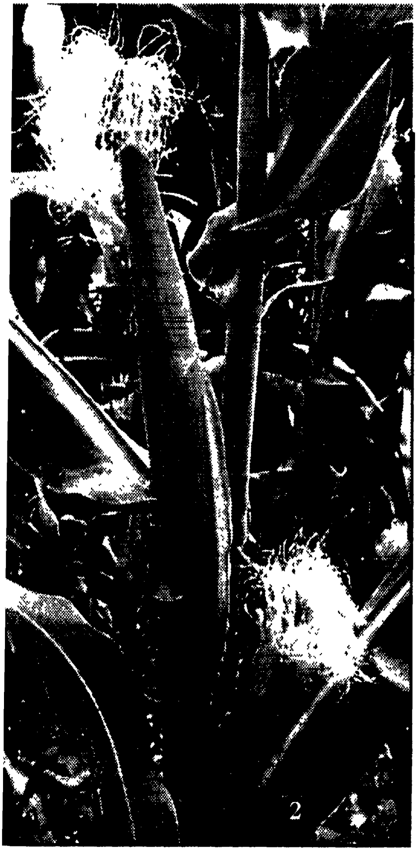

2

फोटो-1 में मक्के के नर फूल दिखाई दे रहे हैं।

फोटो-2 में मक्के के पौधे के तने पर लगे हुए मादा फूल दिखाई दे रहे हैं।

और मांसल पुष्प अक्ष पर लगे स्त्रीकेसर के अंडाशय निषेचन के बाद दानों में बदल जाते हैं और हमें दूध भरे दानों से युक्त भुट्टा खाने को मिलता है।

वर्तिका और पराग नली

वनस्पति जगत में जैसे सबसे बड़ा फूल रिफ्लेशिया में पाया जाता है, वैसे ही मक्के में एक-दो खास बातें केवल मादा फूल में ही मिलती हैं। मसलन सभी फूल वाले पौधों में सबसे लम्बी वर्तिका (Style) मक्के में मिलती है। मक्के की लंबी-लंबी बालनुमा वर्तिका हम सबने देखी ही है। बीजों के निर्माण के पहले परागकण वर्तिकाग्र यानी स्टिग्मा की सतह पर अंकुरित होते हैं, और अपनी पराग नलिका ओवरी (अण्डाशय) में स्थित ओव्यूल तक पहुंचा देते हैं। सो जितनी लम्बी वर्तिका होगी उतनी ही लम्बी पराग नलिका भी बनना चाहिए – तभी नर केन्द्रक, मादा केन्द्रक से मिल पाएगा। यही वजह है कि मक्के में जहां सबसे लम्बी वर्तिका होती है, वहीं सबसे लम्बी पराग नलिका भी इसी पौधे के परागकणों द्वारा बनाई जाती है।

परागण का अनूठा तरीका

हमने देखा कि इस पौधे के शीर्ष पर नर फूल लगते हैं और तने पर मादा फूल लगे होते हैं। नर फूलों में पराग कण बनने के बाद इनके परागकोष यानी एन्थर हवा में लटकने लगते हैं; और हवा के झोंकों से पराग कण निकलकर हवा में बिखरने लगते हैं। जब नर फूल अपने पराग कणों को हवा में बिखेरने के लिए तैयार हो जाते हैं, उस समय मादा फूल की वर्तिकाएं गुच्छों के रूप में भुट्टों की मांसल पत्तियों से बाहर लटकी होती हैं। हवा में उड़ने वाले पराग कण इन ब्रशनुमा रचनाओं में उलझ जाते हैं। आप सोच रहे होंगे कि मान लीजिए हवा न चल रही हो तो परागण कैसे होगा? यदि हवा बह न रही हो तो भी जब परागकोष से पराग कणों के झुण्ड-के-झुण्ड बाहर निकल कर गिरते हैं, तो खूब सारे पराग कण मादा फूलों की इन बालनुमा वर्तिकाओं में उलझ जाते हैं, और इस तरह परागण का काम सम्पन्न होता है।

बीज या फल

हो सकता है आप भी मक्के के दाने को बीज मानते हों पर किसी वनस्पति शास्त्री की राय जानकर आप चौंक सकते हैं क्योंकि उसकी निगाह में मक्के का दाना बीज नहीं फल है; ठीक वैसा ही फल जैसे आम, बेर, जामुन आदि। तो आइए देखते हैं मामला क्या है?

वास्तव में किसी भी फल को देखते हैं तो उसमें सबसे बाहर एक छिलका

होता है जिसमें बीज बंद रहते हैं। अन्दर के बीजों का भी अपना छिलका होता है। मसलन मूंगफली में फल का छिलका तोड़कर हम बीज निकालते हैं और इन बीजों का भी अपना एक पतला-सा लाल रंग का छिलका होता है। पर मक्के के दाने में फल का छिलका और बीज का छिलका दोनों आपस में इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि इन दोनों को अलग-अलग पहचान पाना उतना आसान नहीं है, जितना अन्य किसी फल में। तो यही कारण है कि वनस्पति शास्त्री मक्के के दानों को बीज नहीं फल कहता है। इस तरह के फल को वैज्ञानिकों ने केरिऑप्सिस नाम दिया है। खैर, मक्के के दानों की तरह चावल और गेहूं का नाम भी आपको फल वाली सूची में ही मिलेगा।

कमलकिशोर कुम्भकार: एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से जुड़े हैं।

ज़रा सिर खुजलाइए

पिछले अंक के सवाल में घड़ी का एक डायल दिया गया था। जिसमें 1 से 12 तक के अंक दिए गए थे। आपको डायल को चार हिस्सों में इस तरह काटना था कि हर हिस्से में आए अंकों का योग 20 हो।

जैसा कि सवाल पूछते समय ही बताया गया था कि डायल को काटने के एक से ज़्यादा तरीके हो सकते हैं। यहां डायल को काटने के कुछ तरीके दिए जा रहे हैं। इसके अलावा और भी तरीके हैं। आप कोशिश करके देखिए।

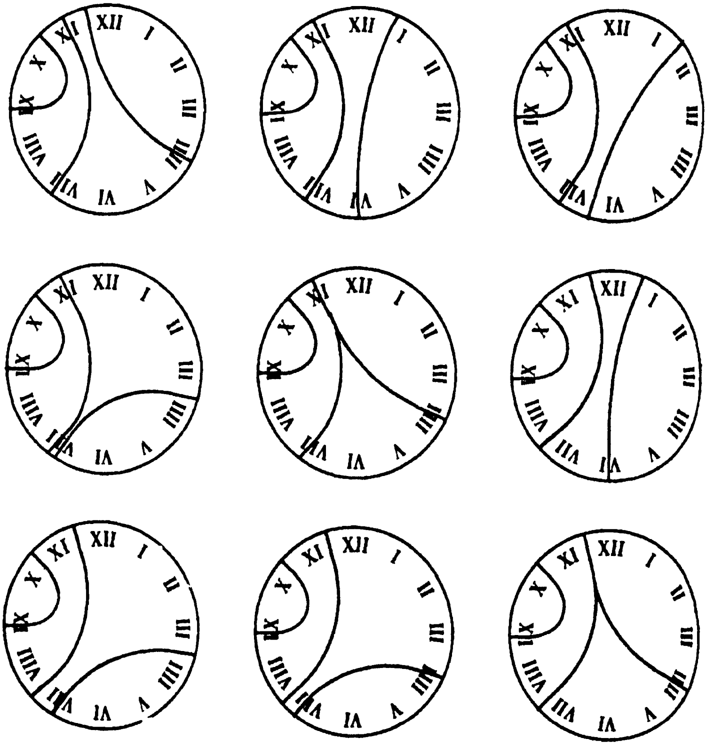

इस बार के सवाल

सवालीराम

सवालीराम से इस बार पूछा गया सवाल कुछ इस तरह से है:

प्रयोगशाला में जो थर्मामीटर हम इस्तेमाल करते हैं, उसमें पारा या एल्कोहल भरा होता है। यदि हम इस थर्मामीटर को उल्टा या टेढ़ा कर देते हैं तो भी उसमें भरा पारा या एल्कोहल दूसरी ओर नहीं सरकता। ऐसा क्यों होता है?

— चौइथराम स्कूल इंदौर, कक्षा 8वीं के कई छात्र

ज़रा सिर खुजलाइए

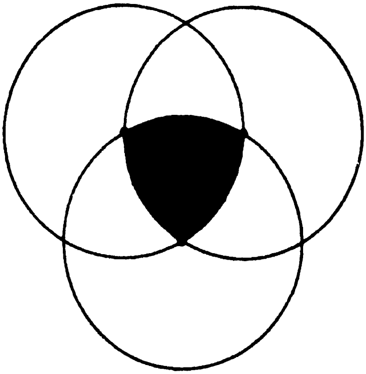

ऊपर तीन वृत्त बने हैं जिनकी परिधि दूसरे वृत्त के केन्द्र से होकर गुज़र रहीं हैं। इस बार आपको यह बताना है कि ऊपर तीनों वृत्तों द्वारा एक-दूसरे को ढांकने से बना शेडेड भाग किसी भी एक वृत्त के चौथाई हिस्से से बड़ा है या छोटा है। वैसे सवाल का जवाब आप गणितीय विधि से दे सकते हैं या किसी तर्क के आधार पर भी।

इन दोनों सवालों के जवाब हमें संदर्भ के पते पर भेजिए।

संदर्भ मराठी और गुजराती में

मराठी संदर्भ की सदस्यता दरें इस प्रकार हैं
एक प्रतिः 20 रुपए
वार्षिक सदस्यता शुल्कः 125 रुपए

गुजराती संदर्भ का प्रथम अंक प्रकाशित हो चुका है। वार्षिक सदस्यता शुल्कः 150 रुपए

सदस्यता शुल्क बैंक ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से भेज सकते हैं।

अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें।

नचिकेता ट्रस्ट
21 महालक्ष्मी सोसायटी
धरमपुर, ज़िला वलसाड
गुजरात 396050

संदर्भ, द्वारा पालकनीती
अमृता क्लिनिक, संभाजी पुल कॉर्नर
कर्वे रोड़, पुणे, पिनः 411004
फोनः 25441230

किसने गाया मीरा को?

परिता मुक्ता
प्रस्तुति– रश्मि पालीवाल

यह पुस्तक मीरा नामक व्यक्ति और मीरा की कथा– दोनों का ही समीक्षात्मक इतिहास हमारे सामने रखती है। प्रकाशित साहित्य, फिल्में और कैसेट कंपनियां मीरा की एक खास छवि को उभारती हैं जिसमें मीरा, प्रेम विभोर, कृष्ण भक्त मीरा के रूप में सामने आती हैं। वहीं मौखिक साहित्य मीरा के एक और रूप से हमारा परिचय कराता है – सामाजिक संस्कारों को ठुकराती मीरा, एक नए जीवन की खोज में जुटी मीरा।
लेखिका परिता मुक्ता की विवेचना हमें न सिर्फ मीरा के प्रति अपितु दलितों और मध्यम वर्गीय लोगों के भिन्न-भिन्न विचारों व आदर्शों के प्रति भी पहले से कहीं ज़्यादा विचारपूर्ण बना देती है।

बात जनवरी 1986 की है जब लेखिका राजस्थान के लिए रवाना हुई – यह सोचकर कि वे मीरा से संबंधित जगहों को देखेंगी और मीरा को उसके अपने सामाजिक संदर्भ में स्थित करने की कोशिश करेंगी। राष्ट्रीय आंदोलन में गांधीजी ने जिस तरह मीरा का आह्‌वान किया था और गुजरात के मध्यमवर्गीय परिवारों की संस्कृति में मीरा की इससे जो छवि बनी थी, वह छवि उनके मस्तिष्क में छाई थी और वे सोचती थीं कि राजस्थान में तो पग-पग पर मीरा पूजी जाती होगी। पर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ जब राजस्थान के विद्वानों, इतिहासकारों, लाईब्रेरियनों, अभिलेखागारों के अधिकारियों – सबने एक स्वर में बताया कि राजस्थान में मीरा गाई नहीं जाती। क्या वो इतना नहीं जानतीं कि मीरा जिसे सिसौदिया राजवंश ने तिरस्कृत कर दिया था, राजस्थान में और लोगों द्वारा खुलेआम कैसे गाई जा सकती थी या पूजी जा सकती थी? मीरा ने राजपूतों की इज़्ज़त को धक्का पहुंचाया था और उसका नाम लेना भी जले पर नमक छिड़कने जैसा समझा जाता है। क्या उन्हें इतना भी नहीं पता कि राजस्थान में गिरी हुई औरतों के लिए एक अपशब्द की तरह उपयोग होता है मीरा का नाम!

इन सबने लेखिका को फिर से सोचने पर मजबूर कर दिया कि आखिर मीरा भक्ति के आधार क्या हैं? अगर वह सिर्फ एक करुणामयी, प्रेरणादायक कृष्ण-भक्तिन नहीं रही तो फिर मीरा और क्या थी, और क्या मानी जाती थी? किसके द्वारा मानी जाती थी? अगर यह सच है कि राजपूत मीरा

की स्मृति से ही घृणा करते थे तो मीरा की दंतकथा को बल कहां से मिला? जब उन्होंने यह सवाल राजस्थान के विद्वानों के सामने रखा तो उनका कहना था कि मीरा वास्तव में गुजरात के मध्यमवर्गीय परिवारों की अमानत रही है और राजस्थान में उसकी लोकप्रियता बहुत हाल की बात है। स्वतंत्रता के बाद जब राजवंशों का दबदबा खत्म हुआ, तो मीरा-भक्ति का प्रचलन राजस्थान में फैला। सवाल यह भी है कि मीरा का कुछ तो पुराना आधार रहा होगा, लोकप्रियता रही होगी– नहीं तो गांधी ने ही मीरा को कैसे व क्यों कर अपनाया? लेखिका के लिए यह बहुत ज़रूरी हो गया कि राजस्थान में मीरा के साथ जुड़े सामाजिक तनावों को ध्यान में रखकर मीरा की खोज करे। जब राजपूत उसे नहीं गाते थे – तो किसने गाया था मीरा को?

सवालों की खोजबीन

वे इन सवालों के जवाब मुस्तैदी से ढूंढने की कोशिश करने लगीं। वे गांवों में स्थित मीरा भजन मंडलियों से जुड़ीं। वे मेवाड़ में दूरदराज़ तक घूमीं-फिरीं। उन्होंने हर स्तर के भजनिकों से बातचीत की और राजपूतों से भी ताकि समाज के विभिन्न वर्गों के बीच मीरा के स्थान को समझ पाएं। मेवाड़ में काम के अनुभवों के आधार पर उन्होंने मारवाड़ और सौराष्ट्र में अपने काम को आगे बढ़ाया।

मीरा के इर्द-गिर्द पैदा हुई सामाजिक व सांस्कृतिक अंतर्विरोध की ध्वनियों को समझना और अलग-अलग ऐतिहासिक कालों में मीरा की बदलती छवि को पहचानना उनके काम का मुख्य बिन्दु बना रहा। भजनिकों के आज के जीवन के जीते-जागते मुद्दों और चिन्ताओं से यह काम अनछुआ नहीं रहा। इस बात को लेखिका ने कई बार महसूस किया। जैसे मेवाड़ के एक गांव में औरतों के एक समूह ने मीरा के भजन गाए जिनमें मीरा वैवाहिक संबंधों को ठुकराती है और फिर, यकायक वे औरतें आसपास के गांवों में औरतों की सामाजिक परिस्थितियों पर चर्चा करने लगीं। इसी तरह एक बार सौराष्ट्र के एक गांव में एक दलित परिवार में बैठकर भजन कार्यक्रम सुने जा रहे थे। कार्यक्रम के अंत में भजनिक गांव के ऊंची जाति वालों के रवैये के विरोध में अपनी कड़वाहट, अपना विरोध जाहिर करने लगे। यानी मीरा के भजनों के पैगाम और उन्हें गाने वाले लोगों के जीवन अनुभवों के बीच लगातार एक सहज पुल बना रहा है।

मीरा गाथा विकसित हुई

मीरा की बहुत-सी जीवनियां उपलब्ध हैं। इसके बावजूद उनके जीवन से जुड़ी जो सर्वमान्य, अकाट्य धारणाएं

हैं, वे बहुत थोड़ी-सी ही हैं कि अपनी जाति बिरादरी और कुनबे के कर्त्तव्यों को ठुकरा कर मीरा ने कृष्ण के साथ अपना संबंध निभाया। इस ज़रा सी संक्षेपिका में ही सामन्ती समाज की तनातनी के तार झनझनाते सुनाई पड़ जाते हैं। बस एक और तथ्य मीरा के जीवन से सदा जोड़ा जाता है कि उसे खत्म करने के लिए ज़हर भेजा गया था पर मीरा फिर भी बच गई। इन थोड़ी-सी बातों के अलावा मीरा से संबंधित तमाम जानकारियां 18वीं सदी में लिखे गए एक ग्रंथ पर आधारित हैं– और उससे उभरकर निकली कल्पनाओं व अनुमानों की देन हैं।

लगभग सन् 1600 में नाभदास ने 'भक्माल' का संकलन तैयार किया था। सन् 1712 में प्रियदास ने भक्तमाल पर एक व्याख्या तैयार की। प्रियदास ने इस रचना में मीरा के जीवन का प्रभावपूर्ण वृत्तांत दिया। 18वीं-19वीं-20वीं सदी के इन लेखनों में मीरा एक एकाकी व्यक्तित्व के रूप में सामने आती है जो थोड़ा आश्चर्यजनक लगता है क्योंकि मीरा ने भक्ति का जो जीवन अपनाया था, वो मूल रूप से परस्पर बंधुत्व के नातों पर टिका था।

वृन्दावन के प्रियदास चैतन्य संप्रदाय से जुड़े थे और इस संप्रदाय की लोकप्रियता वृन्दावन के व्यापारियों-व्यवसायियों के बीच थी। 18वीं सदी में उत्तर भारत में व्यापार-व्यवसाय व बाज़ार से जुड़ी प्रक्रियाओं का बोलबाला था। इस व्यावसायिक मध्यमवर्गीय माहौल में मीरा की गाथा उसी रंग में रंगती हुई प्रचलित रही। अपने इर्द-गिर्द के समाज में प्रचलित कहानियां व कहावतें ही प्रियदास के वृत्तान्त का स्रोत बनी होंगी। प्रियदास के वृत्तान्त में राजपूत राजकुमारी मीरा की छवि उभरने के बजाए एक व्यावसायिक मध्यमवर्गीय घराने की बहू की छवि सामने आती है। इस माहौल में मीरा का घरेलूकरण हो चला जो उस संसार से काफी फर्क था जो गरीब समुदायों के बीच गाए जा रहे मीरा के भजनों में सुनाई पड़ता है।

अब देखते हैं मीरा के भजनों का संकलन व लिपिकरण आखिर कैसे हुआ? जिन भी विद्वानों ने मीरा के भजनों के मूल रूप की खोज करने की कोशिश की है वे एक सीमा से आगे नहीं बढ़ पाए हैं। किन्हीं असार्वजनिक पाण्डुलिपियों से संपादित व संकलित किया एक ग्रंथ सन् 1949 में सुकुल ने प्रकाशित किया है। सवाल यह उठता है कि 16वीं से 18वीं शताब्दी में कई भक्त संतों की रचनाएं संकलित हो रही थीं, तो मीरा के भजन संकलित क्यों नहीं हुए? एक कारण यह रहा होगा कि मीरा ने न किसी एक संप्रदाय को अपनाया, न ही किसी संप्रदाय ने

मीरा को। (बल्कि वल्लभ संप्रदाय के साथ मीरा के नकारात्मक संबंध के प्रमाण भी मिलते हैं।) इस अलगाव ने मीरा के भविष्य में किए जाने वाले चित्रण पर काफी असर डाला।

मीरा न सिर्फ संत-संप्रदाय के संकलनों से नदारद रही, बल्कि समकालीन राजपूत राजदरबारों द्वारा लिखवाए गए इति-वृत्तान्तों (जो वार्ता या बात के नाम से जाने जाते हैं) में भी उसका ज़िक्र नहीं मिलता। अत: मीरा का इतिहास बाद के लेखकों व जीवनीकारों (जो बहुधा 19वीं-20वीं सदी में उभरते मध्यमवर्ग में से थे) द्वारा पुनर्रचित किया गया है।

बाद के लेखकों ने एक ओर जहां मीरा के जीवन के सही तथ्यों को बटोरना और कालक्रम में पिरोना शुरू किया (वो कहां की राजकुमारी थी, उसका विवाह किस राणा के साथ हुआ होगा, उसका काल क्या रहा होगा आदि) वहीं उन्होंने उसके इर्द-गिर्द एक देसी रोमांटिक धरोहर को भी बुनने की कोशिश की। लेखकों के इस तरह के नज़रिए ने मीरा जैसे भक्तों को जन-सामान्य में व्याप्त धार्मिक अभिव्यक्ति के बृहत और सामूहिक अहाते से अलगकर व्यक्तिगत कलात्मकता और भावनात्मकता के दायरे में ला खड़ा किया।

अत: 19वीं-20वीं सदी के मध्यमवर्गीय संभ्रात लेखन में घरेलू आदर्शों में ढली, पवित्र एकाकी भक्ति मीरा के साथ जुड़ गई और यही छवि आगे भी भिन्न-भिन्न तरीकों से प्रतिपादित की जाती रही।

मीरा भजनों की बढ़ती शृंखला

आधुनिक लेखक मीरा भजनों के प्रकाशित संस्करणों पर अपना अध्ययन आधारित करते हैं। वे यह तो जानते हैं और स्वीकार करते हैं कि समाज में कई लोगों ने (अधिकतर औरतों ने) मीरा भजनों के भाव से प्रेरित होकर अपने गीत बनाए और उन्हें मीरा के नाम से औरों के सामने रखा। फिर भी शोधकर्त्ता व लेखक मीरा से जुड़ी रचनाओं के इस लोकप्रिय जनाधार का सहारा नहीं लेते।

परिता मुक्ता का ध्येय भी यही था कि मीरा को उन समुदायों के जीवन, श्रम और वाणी के माध्यम से निर्मित किया जाए जो मौखिक परंपरा में सालों से मीरा भजन गाते आए हैं। मीरा के इतिहास को एक सामाजिक मुक्ति के सामूहिक संघर्ष के रूप में खोजते हुए मीरा को उस एकाकीपन और व्यक्तिवाद से रिहा किया जाए जो प्रियदास के समय से आज तक के लेखकों ने उस पर थोपा है।

जिस तरह मीरा समाज की स्मृति में जीवित रही है उससे ऐसा नहीं

लगता कि यह सारी मान्यता सिर्फ उसकी व्यक्तिगत आस्था के प्रति लोगों के सम्मान की देन है। राजस्थान और गुजरात के किसान व कारीगर समुदायों के गायन में मीरा का स्थान खोजने की कोशिश करते हुए लेखिका को महसूस हुआ कि यहां मीरा एक ऐसे व्यक्ति के रूप में उभरती है जो अपना एक समुदाय निर्मित करती है, उसका हिस्सा बन कर जीती है। यह समुदाय ही है जिसके द्वारा स्वीकार किए जाने, अपनाए जाने से, मीरा हर प्रकार का वह सहारा पा सकी जिसके बिना मनुष्य का जीना मुश्किल होता है। इसी स्वीकृति व बंधुत्व ने, वह जनाधार बनाया जिसके कारण समाज के कई समूहों के बीच मीरा और उसकी रचनाओं को याद रखा जा सका और पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रखा जा सका।

परिता मुक्ता की इस खोजबीन से सामने आने लगी एक मीरा – जो सौराष्ट्र और राजस्थान के अधीनस्थ व हीन वर्गों द्वारा सामन्ती विशेषाधिकारी व जातीय मानदण्डों के विरोध के माध्यम के रूप में अपनाई गई।

विवाह, राजपाट और संन्यास

मीरा ने शायद राणा कुंभा से विवाह किया था। उसने पति के साथ संबंध नहीं बनाया। यदि वह कृष्ण प्रेम को अपने हृदय तक सीमित रखती और मन्दिर के अहाते तक सीमित रखती तो शायद यह बर्दाश्त कर लिया जाता। पर उसने अपनी निष्ठा को सार्वजनिक बनाया। भक्तों-संतों से मित्रता रखी, उनके साथ चित्तौड़ के किले में ही नाची-गाई। पति की मृत्यु होने पर वह सती नहीं हुई। आखिरकार उसने चित्तौड़गढ़ का किला ही छोड़ दिया।

राजपूत राजसत्ता मीरा से वह स्वामी भक्ति हासिल नहीं कर पाई जिस स्वामी भक्ति पर उस समाज की बुनियाद टिकी थी। वैसे तो विवाह के समय ही औरत से उसके मायके की पहचान छिन जाती थी, पर मीरा को सदा राठौड़ी मीरा के नाम से पुकारा गया, याद किया गया।

मीरा के एक बहुत प्रचलित भजन से यह पता चलता है कि मीरा शायद चित्तौड़ से निकलकर अपने मायके नहीं गई, वह पुष्कर तीर्थ पहुंची। एक अन्य भजन में मीरा द्वारा कहा जाता है मैं अपने मैके नहीं जाऊंगी।

मेरा मन,
फकीरी में, गरीबी में
फकीरी में, अमीरी में
मेरा मन ऊंची अट्टालिकाओं में नहीं
टूटी झोपड़ी में बसा है,
सुंदर वस्त्रों में नहीं,
फटे चिथड़ों और गेरुए भेष में बसा है,
लाजवाब पकवानों में नहीं
सूखे बासी टुकड़ों में बसा है।

एक और भजन में मीरा कहती है

एक भजन मंडली: मेड़ता मंदिर में गृहणियों की भजन मंडली मीरा भजनों में तल्लीन है। इस मंडली का नेतृत्व एक विधवा ब्राह्मण महिला कर रही है जिसे इस फोटो में सफेद साड़ी पहने हुए देखा जा सकता है।

"तुम मुझे कड़वे कैर से प्रतीत होते हो राणा – मैं तुम्हारे यहां की लोक-लाज, राजसी ठाठ-बाट, तुम्हारा नगर सब छोड़ आई हूं; फिर भी तुमने मुझसे यह बैर क्यों पाला हुआ है?"

एक अन्य भजन है, "राणा मुझसे क्रोधित होता है तो होए, वह मेरा क्या कर लेगा?" इन भावों के भजन दलित-समूहों के बीच आज तक बड़ी उत्कंठा के साथ गाए जाते हैं और उनके जीवन के दर्द को वाणी देते हैं।

एक तरफ स्थापित जातिगत संबंधों को मीरा चुनौती देती है और गरीबों की तरफदारी करती है, तो दूसरी ओर स्थापित स्त्री-पुरुष संबंधों को भी वह ललकारती है। विवाह की अनिवार्यता और पवित्रता पर प्रश्न करते हुए वह कहती है "मेरे लिए यह गृहस्थी का जीवन कड़वा है, खोखला है। विवाह करो और फिर विधवा हो जाओ! मैं क्यों उसके घर जाऊं, प्रिय मोहन! मैंने अपने प्रिय से ब्याह रचाया है और एक अटूट-अमर संबंध हासिल कर लिया है। वैधव्य का भय मैंने समाप्त कर दिया है।"

इस भाव के भजनों को गाते हुए लोग आज भी बेहतर मानवीय संबंधों के अपने सपनों को उजागर करते हैं, आपस में बांटते हैं।

अछूत दस्तकारों की मीरा

यह महज इत्तफाक नहीं था कि मीरा के काल से राजस्थान व गुजरात में बुनकरों और चमड़े का काम करने वालों के वर्ग का खासा विस्तार हो रहा था। इस समय यूरोप के साथ, समुद्री मार्ग से सघन व्यापार शुरू हो चुका था। बुनकरों व चर्मकारों का संबंध विश्व के बाज़ारों व उत्पादन व्यवस्था से बन गया था। लेकिन जाति व्यवस्था में उनकी स्थिति तो परंपरा अनुसार जस-की-तस थी।

16वीं सदी में चमड़ा निकालने वालों, रंगने वालों, चमड़े की चीज़ें बनाने वालों, जुलाहों, बुनकरों की संख्या बढ़ती गई और 17वीं सदी तक इस प्रकार के दस्तकार, समाज का एक प्रभावशाली वर्ग बनकर आगे आ चुके थे।

रोहिदास और मीरा

इस संदर्भ में यह आम मान्यता महत्वपूर्ण है कि मीरा के गुरु थे चमार संत रोहिदास*।

यद्यपि मीरा व रोहिदास के संबंधों के दावे की ऐतिहासिकता पर प्रश्न चिन्ह लगा हुआ है, इस बात के पुरज़ोर संकेत हैं कि लोगों के बीच मीरा को रोहिदास की शिष्या के रूप में व्यापक स्तर पर श्रद्धा हासिल थी।

मीरा भजनों में कपड़ा बुनने से जुड़ी उपमाओं का व्यापक उपयोग है। यह इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि कबीर की तरह मीरा का बुनकर समुदाय से कोई सीधा रिश्ता तो था नहीं। और यह सब मीरा की सामाजिक स्थिति के बिल्कुल विपरीत भी था।

भजन मंडली द्वारा गाए जाने वाले एक भजन में न सिर्फ मीरा का रोहिदास से संबंध स्पष्ट उल्लेखित है, बल्कि खाल निकालने और रंगने के काम को 'हीन' मानने के नज़रिए को उलट कर रख दिया है। भजन की कुछ पंक्तियों का भावार्थ इस तरह से है:

मीरा के मोहन, मेर्तिनी# के देश में आओ।
मैं जानवर की खाल निकालती हूं,
मैं खालें रंगती हूं,
मेरा काम रंगना है।
यह रंगना आता है मुझे,
यह रंगना भाता है मुझे,
मेरी आत्मा इसमें रंग दो,
मीरा के मोहन, मेर्तिनी के देश में आओ।

यहां रोहिदास को स्वीकार कर और उनके काम को मान्यता दे कर, अपने समाज से निष्कासित मीरा समाज के निष्कासित लोगों के साथ एक अभिन्न, अटूट रिश्ते में बंध जाती है।

** रोहिदास यानी संत रविदास हैं।*

 # मेर्तिनी यानी मेड़ता। मीरा का मायका।

किसानों की मीरा

देवगढ़ के आसपास रहने वाले अंजानिया पटैल, कुन्बी और मीना लोगों ने लेखिका का परिचय एक ऐसी मीरा से कराया जो मध्यमवर्ग में प्रचलित मीरा से बहुत भिन्न थी।

इन किसानों द्वारा गाए गए मीरा भजनों में राणा का ज़बरदस्त मखौल उड़ाया गया है, और मीरा द्वारा चित्तौड़ राजघराने की अवमानना पर बहुत ज़ोर दिया गया है। किसानों से की गई वसूलियां ही तो राणाओं की शक्ति का आधार थीं। यह उल्लेखनीय है कि मीरा भजनों में किसी नामजद राणा का तिरस्कार नहीं होता है बल्कि सामन्ती विशेषधिकारों के प्रतीक के रूप में राणा की भर्त्सना की जाती है।

मीरा दलित समाजों के जीवन में

मीरा 'लोगों की मीरा' का रूप ग्रहण करती है,लोगों द्वारा गाई जाकर। फिर भी, मीरा के अपने व्यक्तित्व और इतिहास में एक माद्दा है जो उसे पूरी तरह अलग-अलग लोगों की धारणाओं के अनुसार ढल जाने से बचाता है। मीरा बीमारियों का इलाज नहीं करती, वह वरदान नहीं देती। उसकी ज़िंदगी के चमत्कार उसके द्वारा

भजन-गायक: वी. दहयाभाई मी भजनों को बखूबी गाते हैं। यहां द्वारका में वे अंशकालिक मज़दूरों के एक ममूह के बीच भजन गा रहे हैं।

किए गए चमत्कार नहीं हैं जो अपने इर्द-गिर्द के लोगों को अपनी शक्ति से चकाचौंध कर अपने आपको उच्चता प्रदान करते हों। इसके विपरीत, मीरा आत्मिक शक्ति के एक सशक्त प्रतीक के रूप में उभरती है, जिसने मानवीय संबंध बनाए भी और उन संबंधों की विवेचना भी की।

सौराष्ट्र में सबसे ज़्यादा गाया जाने वाला मीरा भजन रोहिदास से संबंधित है, जिसमें वे मीरा से अपने घर लौट जाने का अनुरोध करते हैं। इसे मेर, बघेर, कोली आदि समुदायों में भी गाया जाता है जो दलित नहीं हैं। (भावार्थ)

मीराबाई तू मेरी भक्त है,
मीराबाई तू जानती है कि तू एक राजकुमारी है,
एक राठौड़ी राजकुमारी,
रोहिदास जात का चमार है,
मीराबाई तू घर लौट जा,
मीराबाई राणा बहुत क्रोधित होगा,
वो मुझे जान से मार डालेगा और तुझे लताड़ेगा।
मीराबाई, मैं कहता हूं तुझ से तू घर चली जा।
मीराबाई, तेरा मायका लज्जा में डूब जाएगा,
चित्तौड़ का दुर्ग लज्जा में डूब गया है,
मीराबाई तू घर चली जा।
मीराबाई– तू सुन रही है न लोग तुझ पर लांछन उछाल रहे हैं और वे मुझ पर भी ताने कस रहे हैं,
मीरा जवाब देती है, मेरे प्रभु उन सबको देख लेंगे।
मीराबाई तू घर चली जा
रामानंद के चरण में बसे रोहिदास कहते हैं, मीराबाई, अपने प्रिय की भक्ति न छोड़।

इस भजन में– वो पूरा ऐतिहासिक संघर्ष जीवन्त हो उठता है और हमें उस दौर की एक झलक मुहैया करा देता है। जब यह भजन गाया जाता है तो वहां दलितों के बीच ध्वनित हो उठता है एक गाढ़ा टीसता दर्द, एक नाता बनाने में निहित दर्द, जिसकी धार इस जानकारी से पैनी बनती है कि सामाजिक बहिष्कारों व दण्ड-विधानों के बावजूद मीरा अपने सच्चे नातों के प्रति निष्ठावान बनी रही।

इन भजनों में रोहिदास की आध्यात्मिक शक्ति की भूमिका बहुत साफतौर पर उभरती है, जिसने मीरा के संघर्ष को बल प्रदान किया और उसे राह दिखाई। ये भजन मीरा के नातों के जातीय व वर्गीय आधारों को उकेरते हैं।

मीरा राजपूत इतिहास में

सन् 1818 से 1822 के दौरान कर्नल टॉड ब्रिटिश प्रशासन की ओर से मेवाड़ में पॉलिटिकल एजेंट थे। उन्होंने एक ग्रंथ लिखा (ऐनल्स एंड ऐन्टिक्विटीज़ ऑफ राजस्थान) जो 1829 व 1832 के बीच तीन खंडों

में प्रकाशित हुआ। टॉड ने राजपूतों के इतिहास के बारे में जो कुछ लिखा उसका असर लंबे समय तक बना रहा।

टॉड मीरा को राणा कुंभा की पत्नी बताते हैं और यह अनुमान व्यक्त करते हैं कि उन्हीं से मीरा ने अपना करुणापूर्ण कवित्व प्राप्त किया होगा। उनके कथन में "मीरा अपने समय की सबसे खूबसूरत और सबसे ज़्यादा करुणामयी व प्रेम-विभोर राजकुमारी थी जिसका इतिहास ही एक प्रेमगाथा है।"

इस तरह 19वीं सदी में प्रचलित 'रोमांटिक आदर्शों' के नज़रिए से टॉड मीरा को देखते हैं और इस पक्ष को पकड़ नहीं पाते कि मीरा-भक्ति ने किस तरह राजपूतों की पितृप्रधान सत्ता को ललकारा था।

टॉड ने चित्तौड़गढ़ के किले में बने एक मन्दिर को मीरा द्वारा निर्मित मन्दिर करार किया और उनके आधार पर आगे आने वाले सरकारी दस्तावेज़ों में इस मंदिर को मीराबाई के मंदिर के रूप में स्थान मिलने लगा। इस प्रयास से सिसौदिया राजपूतों के इतिहास में मीरा का एक स्थान बन गया। टॉड लिखते हैं, "चित्तौड़ के किले में दो मंदिर कृष्ण के लिए बनाए गए, एक राणा कुंभा के द्वारा बनाया गया और दूसरा उसकी प्रसिद्ध पत्नी प्रमुख कवियत्री, मीराबाई के द्वारा अपने आराध्य शामनाथ के लिए बनवाया गया।"

इससे पहले हमें कहीं भी यह प्रमाण नहीं मिलता कि मीरा ने सिसौदिया के किले में कोई कृष्ण मंदिर बनवाया था।

1905 में प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ द आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ वैस्टर्न इंडिया में इस मंदिर को "जो मीराबाई का मंदिर कहा जाता है" के रूप में प्रस्तुत किया गया है और साथ में यह भी कहा गया है कि यह मंदिर गुहिल राजकुमार कुंभकरण द्वारा बनाया गया प्रतीत होता है और संभवतः इसका राणा सांगा की वधू, मीराबाई से कोई संबंध नहीं था।

मंदिर को लेकर चली आ रही भ्रम की स्थिति सन् 1955 में जाकर समाप्त हो जाती है जब शासन द्वारा इस मंदिर को सार्वजनिक रूप से 'मीरा-मंदिर' घोषित कर दिया जाता है। उसी समय कृष्ण-भक्ति में डूबी मीरा की एक गत्ते की आकृति भी मंदिर में प्रतिष्ठित कर दी जाती है।

कथित मीरा-मंदिर की खोज का घटना क्रम काफी रोचक है। 1933 में लालसिन्हा शक्तावत मेवाड़ के सेटलमेंट अधिकारी थे। जब वे चित्तौड़ गए तो कथित 'मीरा-मंदिर' की जीर्ण-शीर्ण हालत से उन्हें बहुत धक्का लगा। मंदिर अन्दर से खाली भी था। उन्हें लगा कि इसमें मीरा की मूर्ति तो स्थापित की ही जानी चाहिए। दरअसल यह भी एक जानने का विषय है कि

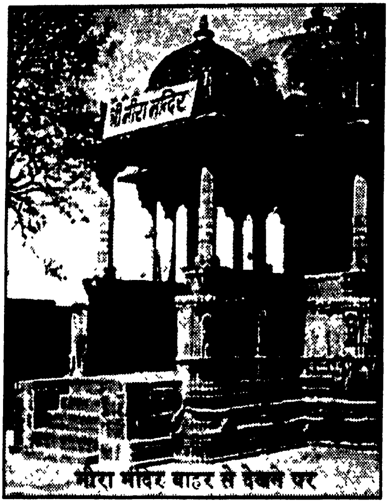

मीरा मंदिर बाहर से देखने पर

मंदिर का गर्भगृह

मीरा मंदिर: चित्तौड़ में यह मंदिर जिसके बारे में शक्तावतजी और राधाकृष्णजी को यकीन था कि यही वह मंदिर है जहां मीरा ने कृष्ण की पूजा-अर्चना की थी। इसे मीरा मंदिर कहा गया। धीरे-धीरे राज्य शासन को भी इस बात पर यकीन होने लगा। अब बच गया मंदिर में मूर्ति की स्थापना का सवाल। उदयपुर राजपरिवार के भोपालसिंह ने गत्ते का रंगा हुआ कृष्ण और मीरा का कटआऊट उपलब्ध करवा दिया और इस तरह मीरा मंदिर का ताना-बाना पूरा हो गया। मंदिर के गर्भगृह में कृष्ण की उपासना करती हुई गत्ते के कटआउट वाली मीरा सुशोभित है।

शक्तावत ने यह पक्का कैसे किया कि वह जीर्ण-शीर्ण मंदिर मीरा का मंदिर था? यह जानकारी हमें श्री राधाकृष्णजी से मिलती है जो शक्तावत के घनिष्ठ थे। राधाकृष्णजी 1987 में 92 वर्ष के वृद्ध पुजारी थे। जब लेखिका ने उनसे भेंट की तो उन्होंने बताया था कि "लालसिन्हा ने इतिहास पढ़ा था और पहले उन्हें लगा था कि यह बड़ा कुंभश्याम मंदिर ही वह मंदिर है जहां मीरा ने पूजा की थी। लेकिन जब पता चला वह आदिवराह का मंदिर है तो उन्होंने सोचा कि यह दूसरा मंदिर ही वह मंदिर होगा जहां मीरा कृष्ण-भक्ति में डूबी हुई भजन गाया करती थी।"

राधाकृष्णजी ने आगे बताया, "जिससे भी मैं मिलता वो मुझसे पूछते – क्या आपको पक्का विश्वास है कि यही मीरा मंदिर है? और मैं हां में जवाब देता। पर मेरे मन में भय था। मैं यकीनी तौर पर यह कैसे कह सकता हूं? तब मैंने चित्तौड़गढ़ के मंदिर के

अहाते में व्रत रखा। रात भर जागता रहा, भजन गाता रहा। शायद वो पूर्णिमा की रात थी। मैं आधी जागी-आधी सोई अवस्था में था, तब मुझे एक आकृति अपनी ओर आती नज़र आई। सफेद कपड़ों में लिपटी, खुले लंबे बालों वाली वह आकृति। मुझे पता था यह मीरा ही है। उसके हाथ में एकतारा था। वो मेरे पास आई और बोली कि मुझे अपने मन के सब भय, अंदेशे मिटा देने चाहिए क्योंकि यही उसका मंदिर है। इतना कहकर वो लुप्त हो गई। उसके बाद से आज तक मुझे मीरा-मंदिर को लेकर कोई शक नहीं हुआ।"

1957-1962 के बीच शक्तावत चित्तौड़गढ़ से विधान सभा के सदस्य थे। उनके प्रयासों से पुरातत्व विभाग ने मीरा-मंदिर का जीर्णोद्धार कार्य पूरा किया। अब सवाल उठा कि मंदिर में प्राण प्रतिष्ठा कैसे की जाए?

शक्तावत और राधाकृष्ण दोनों यह मानते थे कि उदयपुर के महल में रखी एक छोटी कृष्ण मूर्ति ही वह मूर्ति है जिसे मीरा पूजती थी। उन्हें लगता था कि इस मूर्ति को कायदे से मीरा मंदिर के अन्दर होना चाहिए। उनके मांगने पर पहले तो राज परिवार के भोपालसिंह ने हां कर दी; पर बाद में आनाकानी करने लगे। आखिर एक समझौता किया गया। भोपालसिंह ने राजदरबार के एक रंगकार से मीरा और उस कृष्ण की मूर्ति का गत्ते का एक कटआऊट रंगवाया। इस कटआऊट को 2 मई 1955 में शक्तावत ने मंदिर के गर्भगृह में स्थापित किया। बाद में मंदिर के सामने एक चबूतरा बना जिस पर दो पैरों के निशान हैं। ये रोहिदास के चरणों के निशान माने जाते हैं।

आज टूरिज़्म और राजनीति की दुनिया में मीरा बाई के नाम का काफी उपयोग होता है। तो क्या हम यह कह सकते हैं कि राजपूत समाज में मीरा ने अपनी जगह बना ली है?

इस सवाल का जवाब कुछ अनुभवों के मार्फत तलाशने की कोशिश करते हैं। छोठूजी नट कठपुतली का खेल दिखाने वाले परिवार से हैं। वे लोग जब भी किसी नए गांव में खेल दिखाने पहुंचते तो लोगों का ध्यान खींचने के लिए मीरा भजन गाते, इससे लोग तुरन्त इकट्ठा हो जाते थे।

सन् 1972 में छोठूजी सिसौदिया-का-खेड़ा नामक गांव में पहुंचे। यहां कुछ सिसौदिया परिवारों की बस्तियां थीं। जैसा कि वे अक्सर करते थे उन्होंने एक मीरा भजन छेड़ दिया। इकट्ठे हुए लोग उत्तेजित होकर भजन बंद करने के लिए चिल्लाने लगे। एक वृद्ध ने आकर छोठूजी को समझाया "आइन्दा कभी भूल से भी सिसौदिया

के बीच में मीरा भजन न गाना। हम लोग अभी भी मानते हैं कि मीरा ने हमारा नाम कलंकित किया है।'' हालांकि वे लोग राजवी सिसौदिया नहीं गरीब राजपूत थे जो अपने-अपने खेतों में मेहनत करते थे।

इसी तरह जब भट्टी राजपूत महिलाओं से पूछा गया कि क्या वे अपनी बेटी का नाम मीरा रखने की सोचती हैं? इस सवाल के जवाब में एक बहुत अभद्र नकारात्मक प्रतिक्रिया सामने आई।

संन्यासिनियों की भूमि में भी वह औरत जो ईश्वर से अपने तरह से रिश्ता जोड़ती है, अपनी खुद की आस्थाओं को प्रकट करती है और अपनी संगत खुद चुनती है – जो समाज में पितृसत्ता द्वारा निर्धारित रास्तों से हटकर जीती है – अजीब नज़रों से देखी जाती है। 'भक्तिन या भक्तन' आदरसूचक नहीं अपमान सूचक शब्द माना जाता है। भक्तिनी से आशय एक वैश्या तो नहीं होता पर एक ऐसी औरत से होता है जो मुक्त है, स्वच्छन्द है।

राजस्थान में 'तो तू मीरावाई बनी जा रही है' यह वाक्य एक कटाक्ष की तरह उन लड़कियों-औरतों के लिए प्रयुक्त होता है जो लड़कियां या औरतें अपने बुजुर्गों की मर्ज़ी से हटकर कुछ करती हैं, ज़ोर से गाती हैं या अपने बाल खुले रखती हैं।

इन सब बातों से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि राजपूत समाज ने अभी भी मीरा को एक संत के रूप में स्वीकार नहीं किया है।

राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान

बींसवीं सदी में जब भारत को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में निर्मित किया जा रहा था तब मीरा के संदेश को, उसके महत्व को एक नई दिशा देने का प्रयत्न हुआ। आइए देखते हैं कि गांधी ने यह प्रयास किस तरह किया। मीरा के भजन गांधी के आश्रमों में शुरू से ही गाए जाते थे। जैसे 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।'

गांधी के सहयोगी प्रभुदास लिखते हैं कि इन भजनों से गांधी सामाजिक और राजनैतिक बाधाओं का सामना करने की प्रेरणा लेते थे। मीरा के जीवन की कई बातों में गांधी अपने जीवन की छवियां देख पाते होंगे – सत्ता की प्रताड़ना के विरुद्ध मीरा का निर्भय बल, अपने हृदय की राह पर चलने की उसकी दृढता, शान-शौकत छोड़कर, सादगी भरा जीवन जीने की उसकी प्रवृत्ति – यही सब गांधी के जीवन में भी ध्वनित होता था। बनिस्बत इसके, गांधी को वास्तव में मीरा के इतिहास के बारे में बहुत कम पता था।

गांधी के अनुसार सत्याग्रह एक

नैतिक बल है और वही लोग जो एक नैतिक जीवन के प्रति रुझान रखते हैं इसे विवेक के साथ उपयोग में ला सकते हैं। गांधी तो प्रहलाद और मीरा को भी सत्याग्रही का उदाहरण माना करते थे। गांधी ऐसा समझते और प्रस्तुत करते थे कि मीरा अपने पति से प्रेम करती थी और उस प्रेम की खातिर ही, उन्होंने पति को त्यागकर सत्याग्रह किया। गांधी की व्याख्या में मीरा ने लोगों की परवाह नहीं की क्योंकि दरअसल वो अपने पति के प्रति प्रेम के सही अर्थों को तलाशने के लिए ही उनसे अलग हो रही थी।

इन व्याख्याओं में गांधी के मन का द्वंद्व झलक उठता है। एक तरफ वे मीरा में एक जूझता हुआ सत्याग्रही देखते थे। दूसरी ओर वे मीरा में पतिव्रता का आदर्श भी देखना चाहते थे क्योंकि पितृ-प्रधान समाज के ऐसे ही मूल्यों पर वे भविष्य का समाज रचना चाहते थे। वे यह स्थापित करने की कोशिश कर रहे थे कि जिसके विरुद्ध सत्याग्रह किया जा रहा हो उसके विरुद्ध घृणा नहीं पाली जानी चाहिए और मीरा ने भी नहीं पाली। राणा से मिली प्रताड़नाओं को उसने प्रेमपूर्वक स्वीकार किया। गांधी के अनुसार मीरा ने राणा को एक अलग प्रेम, एक अलग जीवन की चाह में नहीं छोड़ा, अपितु राणा को सही राह पर लाने के लिए उसने ऐसा किया।

चित्तौड़गढ़ की गद्दी को ठुकराने वाली मीरा, राणा को कड़वा कैर बताने वाली, राणा से हर प्रकार के संबंध को ठुकराने वाली मीरा – गांधी की जानकारी में नहीं आती। मीरा के गीतों को गाने वाले उस समुदाय के साथ भी गांधी एकात्म नहीं हो पाते जो मीरा के माध्यम से थोपे गए वैवाहिक संबंधों को नकारता है और जो विवाह व वैधव्य की व्यवस्थाओं को ललकारता है। विवाह के मूल को गांधी नहीं नकारते कि पत्नी को पति का अनुयायी होना चाहिए। किन्तु यदि कोई औरत राष्ट्रीय आंदोलन में जुड़ना चाहे और उसका पति ऐसा न चाहे तो? क्या बड़ा है – राष्ट्रीय आंदोलन का उदात्त लक्ष्य या पतिव्रता धर्म? इस द्वन्द्व का उत्तर गांधी मीरा में निकालते हैं। वे कहते हैं,"पत्नी को अपना रास्ता चुनने और विनयपूर्वक उसके परिणामों को भुगतने का पूरा अधिकार है यदि उसका यह प्रतिरोध एक उच्चतर उद्देश्य के लिए किया गया हो।"

यहां भी सवाल है कि इस उच्चतर उद्देश्य की पहचान कौन करेगा? किसको यह हक है? लेखिका यह भांपती है कि गांधी की धारणा में उन जैसा कल्याणकारी अधिनायक औरों को राह दिखाएगा तथा औरों के लिए उद्देश्य तय करेगा। गांधी के विचारों पर गौर करते हुए ऐसा लगता है कि एक तरफ गांधी ने घरेलू जीवन,

विवाह, संयम, धर्म के आदर्शों को मानते हुए उन्हें राजनीति में लागू करने के प्रयास किए और दूसरी ओर इनका 'विवाह' करने की कोशिश भी की न्याय और सत्य के लिए लड़ने के अपने आदर्श से। इस प्रयास में गांधी के विचार द्वंद्व, अन्तर्विरोध और विषमता से घिरे रहे और इसी आइने से उन्होंने मीरा की छवि को उकेरा है।

मीरा के भजनों में व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता की ज़बरदस्त वकालत की गई है। अपनी पसन्द के रिश्ते और संगत अपनाने की स्वतंत्रता का मुखर प्रतिपादन किया गया है – वे ईश्वर के साथ हों, समाज में अस्पृश्य करार किए गए लोगों के साथ हों, फटेहाल राहगीरों के साथ हों, दरिद्र भजन गायकों के साथ हों, समाज के हाशिए पर रह रहे लोगों के साथ हों। यह निजी स्वतंत्रता अपने मन की आवाज़ में बसी है, किसी बड़े आदर्श की पुकार में नहीं। इसी बिन्दु पर लेखिका मीरा के संदेश और गांधी के संदेश में मूलभूत अन्तर इंगित करती हैं। उनके विश्लेषण में मीरा के संदेश सबसे निर्धन तबके के लोगों में जीवित रहे; वे लोग जो स्थापित समाजों व धर्मों की व्यवस्था को बदलने के इच्छुक थे। यद्यपि गांधी ने निचले तबके के लोगों से जुड़ने के बहुत ठोस कदम उठाए (जैसे अछूतोद्धार, आश्रम शालाएं, बुनियादी शिक्षा) उनकी व्यापक रणनीति में यह बात भी महत्व रखती थी कि उच्चवर्ण व वर्ग के लोगों, परंपरागत धर्मों को मानने वाले लोगों को भी अपने आंदोलन से जोड़ा जाए। इस तरह अलग-अलग सामाजिक ताकतों के बीच सामंजस्य बिठाने के प्रयास में गांधी उस खुले भाव से, उस पूर्णता से गरीब उपेक्षित वर्गों के साथ नहीं जुड़ पाए जिस तरह मीरा जुड़ पाई थी। सत्ता को ठुकराने की मीरा की मुखरता, सत्ता की छाया से हटकर जीने की उसकी तत्परता ने गीतों की जिन ध्वनियों को जन्म दिया वे ध्वनियां गांधी-दर्शन में नहीं गूंज पाईं।

मीरा की छवि का विस्तार

स्वतंत्रता के बाद के दशकों में मीरा के भजनों का दायरा कैसे विस्तार पाता है यह भी काफी रोचक है। ये भजन भजन-गायकों के समूहों व क्षेत्रीय भाषाओं में गाए जाने से आगे बढ़कर हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के रागों में पिरोए जाने लगे। संगीत समारोह में एकल रूप से गाए जाने लगे। इन नए संदर्भों में ये भजन अपने मूल सामाजिक संदर्भ से कट गए। मीरा पर फिल्में भी बनीं। 1947 में बनी फिल्म में एम.एस. सुब्बलक्ष्मी ने मीरा का किरदार निभाया फिर 1979 में बनी फिल्म 'मीरा' में हेमामालिनी ने मीरा की भूमिका निभाई।

पिछले कुछ दशकों में कैलेण्डर हो

प्रिंट और विजुअल मीडिया: पोस्टरों, तैलचित्रों, कैलेंडरों और फिल्मों के माध्यम से मीरा की जिस छवि को परोसा गया है वह छवि पूर्ववर्ती मौखिक परम्पराओं में महफ़ूज़ छवि से एकदम ही भिन्न है। आज भारत में मध्यमवर्ग ने मीरा को इन्हीं फिल्मों, पोस्टरों या ऑडियो कैसेट के मार्फत जाना है। इनके लिए यह सोच पाना भी कठिन है कि मीरा ने राजपूतों की पितृसत्तात्मक व्यवस्था को चुनौती दी थी और महल त्यागकर घुमंतू गरीब साधुओं और भजन गायकों के समुदाय का हिस्सा बनकर जीती रही।

या ग्रीटिंग कार्ड या पुस्तकों के कवर – मीरा की छवि जगह-जगह उपयोग की गई है। बहुत से लोग 'मीरा' को बाज़ार में प्रचलित इन्हीं छवियों के द्वारा पहचानते हैं। 19वीं और 20वीं सदी के चित्रकारों ने भी मीरा पर कई चित्र बनाए। मीरा का यह नया रूप गरीब भजन गायकों के बीच जी रही मीरा की छवि से एकदम ही फर्क है।

साथ ही, इस मध्यम वर्गीय संभ्रात छवि ने अपना प्रभाव गरीब समुदायों पर भी डालना शुरू कर दिया है। लोकप्रिय गायकों द्वारा गाए गए मीरा भजनों के कैसेट गांव-गांव पहुंचने लगे हैं। कई ग्रामीण भजन गायक, अपनी परंपरागत शैली छोड़ या उसके अलावा इन लोकप्रिय गीतों की धुनों में मीरा भजन गाने लगे हैं।

कई युवा ग्रामीण भजन गायक, रेडियो कलाकार बन चले हैं। इन सबसे गरीब भजन गायकों के समुदायों में दरारें पड़नी शुरू हो गई हैं। व्यक्तिगत

ख्याति और व्यावसायिकता के प्रभाव को झेलते हुए भी मीरा को गाने वाले कई समूह एक स्वाधीन समाज के सपने को संजोए हुए आपस में एकजुट हैं। अफसोस इस बात का है कि ऐसा कोई राजनैतिक आंदोलन नहीं उभरा जो इन सपनों के साथ जुड़ सके।

मीरा साधो रो संग छोड़ो रे

मीरा ने अपने पति के साथ एक असंतोषजनक संबंध को नकार कर अपने मन की चाहत में डूबकर जीने का निश्चय किया था। सिर्फ निश्चय नहीं प्रयास किया था। साधुओं की संगत अपनाई थी। इस कदम से पितृसत्ता की बुनियाद पर चोट हुई थी – और मीरा ने खुलकर यह चोट की थी। मीरा भजनों की कई पंक्तियां इस खुली चुनौती को व्यक्त करती आई हैं।

''मीरा साधो रो संग छोड़ो रे, छोड़ो रे,
लाजे थारो मेरटो, मेवाड़ लाजे हो।''

किन्तु आज मीरा की कृष्ण-भक्ति पितृसत्ता पर की जाने वाली चोट बन कर विद्यमान नहीं है। राजस्थान और सौराष्ट्र के मध्यमवर्गीय परिवारों में औरतें अपनी अकेली पूजा में या यदा-कदा इकट्ठी होकर, मीरा भजन गाती ज़रूर हैं। इन भजनों में एक कल्पित प्रिय के साथ एक परिपूर्ण संबंध की कल्पना गूंजती है, ये भजन शायद उनके वास्तविक जीवन में थोपे गए अनचाहे असंतोषजनक संबंधों की वेदना पर मरहम-पट्टी लगाते हैं। अंततः परिणाम यह होता है कि औरतें ज़्यादा परिपूर्ण संबंधों की चाहत मन में रखते हुए भी स्थापित संबंधों व सामाजिक नियमों को निभाती रहती हैं। यह एक किस्म की 'निजी भक्ति' है। एक अकेले, अक्षम व्यक्ति की भावभीनी पनाह, जहां वह कुछ सुकून पाकर फिर अपने जीवन के दुखड़ों को ढोने लौट पड़े लेकिन उसे तोड़ने और बदलने को प्रेरित न हो। आज के इस संदर्भ में मीरा-भजनों की पंक्तियों में भी संशोधन होते जा रहे हैं। ''मीरा साधो रो संग छोड़ो रे'' वाले भजन को अब जब मध्यमवर्गीय परिवेशों में गाया जाता है तो एक दूसरी पंक्ति बहुत दोहराई जाती है– ''घुंघरू छमा छम बाजे रे, बाजे रे, निज मंदिर रे माई मीरा उबी नाचे रे''। इन पंक्तियों को बार-बार दोहराने से गाने की भावना ही बदल-सी जाती है और मीरा की एक सम्मोहिनी नारी की छवि सामने आती है।

अब तो मंदिर के अहातें हो या लोगों के घर, फिल्मी धुनों पर मीरा के फिल्मी अन्दाज़ के भजन सुनने को मिलते ही रहते हैं। ये गीत दिल की चाहतों को नम तो रखते हैं, पर पपीहे की प्यास नहीं बुझा सकते। इनसे स्वाधीन जीवन के आसार नहीं बढ़ते

बंदिशों की दीवारें नहीं टूटती। एकाकी मन ज़्यादा सशक्त नहीं होता परिवर्तित नहीं होता, तड़पता रहता है। अलग-अलग दौर में मीरा के बदलते अर्थों को देखने के बाद आइए यह भी जान लें कि मीरा के भजनों से उसके शेष जीवन पर क्या प्रकाश पड़ता है।

फकीरी और अंत

मीरा के भजनों से ही यह जानकारी भी मिल जाती है कि घर-बार छोड़ने के बाद मीरा कष्टों व संकटों के बीच कैसे जीती रही। सबसे पहले तो उसके प्राणों को सिसौदियों के बैर से ही खतरा था। मीरा का खात्मा इसलिए ज़रूरी नहीं था कि वह गिरधर की भक्त थी। वह इसलिए ज़रूरी था क्योंकि उसने राजपूतों की इज़्ज़त पर चोट की थी। इसके बावजूद मीरा को मारा न जा सका। उसके लिए समर्थन और सहानुभूति के कई स्रोत रहे ही होंगे। तभी चित्तौड़ के किले में मीरा के पास भेजा गया विष का प्याला जब मीरा के पास पहुंचा तो उसमें विष नहीं था।

चित्तौड़ छोड़कर मीरा घूमते, गाते-बजाते द्वारका पहुंची। वह फकीरों-साधों के बीच रहने लगी।

एक भजन इस प्रकार है – "जोगिन बनके मैंने एक जीवन से हाथ धो लिया है, हाथ में एक झोली लिए मैं घर-घर भीख मांगती फिरती हूं, हम बड़भागे नहीं है राणा, मैं बहुत गरीब हूं। मीराबाई गिरधर के गुण गाती है हम उसकी भक्ति से ही सुख पाते हैं।"

मीरा किसी संप्रदाय का हिस्सा नहीं बनी, किसी मठ की स्वामी भी नहीं। घुमंतू गरीब साधुओं और भजन गायकों के समुदाय का हिस्सा बनकर वह जीती है और अपनी वाणी से, संदेश से उस समुदाय को विकसित करती है।

तमाम संकटों के बीच मीरा कैसे जीती रही– यह कई भजनों में पाया गया है। पर एक भी भजन यह नहीं बताता कि मीरा का अंत कैसे हुआ। दंतकथाओं में मीरा द्वारका के मंदिर में रखी कृष्ण की मूर्ति में विलीन हो गई और फिर वापिस नहीं आई। ऐसा तब हुआ बताया जाता है जब राणा उदयसिंह के दो संदेशवाहक द्वारका में उससे आकर मिले और उसे वापिस ले जाने की हठ करने लगे। तब मीरा मंदिर के गर्भगृह में गई और कृष्ण की मूर्ति में विलीन हो गई। यह कथा भी गरीब भजन गायकों के बीच प्रचलित नहीं है। यह कथा भी मध्यमवर्गीय लेखकों आदि की देन प्रतीत होती है।

क्या हुआ यह तो नहीं जाना जा सकता। कुछ अनुमान ज़रूर लगाए जा सकते हैं जैसे – शायद राणा के आदमियों ने उसे मार डाला, शायद उसने आत्महत्या की, शायद वह मंदिर के पीछे से भाग निकली और

दूर किसी इलाके में जीती रही?

जिस साहस के साथ मीरा ने अपनी राह बनाई और नए रिश्ते-नाते जोड़े, उसके संदर्भ में आत्महत्या संभव नहीं लगती। दूसरी तरफ राजपूतों में बैर और बदला लेने की कोशिशों की गंभीरता कम नहीं आंकी जा सकती और इसलिए यह संभव लगता है कि शायद उन्होंने मीरा को खत्म कर दिया हो। पर मीरा भजन गाने वाले समुदाय इस संभावना को कतई स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा में, स्मृति में, मीरा हर खतरे से उबर सकी थी।

* * *

यहां लेखिका तय करती है कि इस प्रश्न का कोई हल न खोजना ही ठीक है। आखिर किसलिए शहादत की महिमा मीरा को ओढ़ाई जाए? क्यों न उसे लोगों के बीच जीता हुआ ही छोड़ दिया जाए जैसे वो उनकी उम्मीद, उनका सपना, बन बरसों से जीती आई है?

परिता मुक्ता: संडरलैंड विश्वविद्यालय, इंग्लैंड के स्कूल ऑफ सोशियल एंड इंटरनेशनल स्टडीज़ विभाग से जुड़ी हैं। विविध महिला आंदोलनों से संबद्ध हैं।

रश्मि पालीवाल: एकलव्य के सामाजिक अध्ययन कार्यक्रम से संबद्ध हैं।

यह लेख परिता मुक्ता द्वारा लिखी गई किताब 'अपहोल्डिंग द कॉमन लाईफ – द कम्युनिटी ऑफ मीरा बाई; (प्रकाशक: ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस) से साभार।

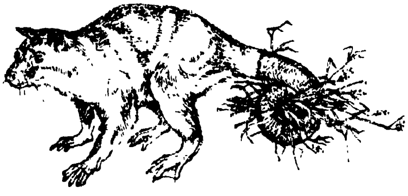

विलियम बिल्ल

इयान मेक इवान

चित्र : सरजेई यूकिन

दिन में सपने देखने वाले पीटर ने इस बार बिल्ले के शरीर में घुसकर जाना बिल्ला होने का मतलब।

पीटर के माता-पिता दोनों नौकरीपेशा थे। घर में खाने की मेज़ के इर्द-गिर्द भगदड़ मची रहती – कभी गुम कागज़ की तलाश होती तो कभी मिलने वालों के पते-ठिकाने का हिसाब रखने वाली डायरी की, कभी जूते नहीं मिल रहे होते तो कभी कुछ और। जो कुछ भी पक रहा हो उसे गड़प जाना और अपने लिए बैठने की जगह खोजना ही आपकी नियति होती।

यहां हर समय गर्माहट बनी रहती, कुछ-कुछ बिस्तर जैसी – लेकिन वैसा सुकून न होता। चारों ओर सवालों का भेष ओढ़े ढेरों आरोप बिखरे रहते। बिल्ले को किसने खाना दिया? तुम कितने बजे घर आओगे? क्या तुमने स्कूल का काम खत्म कर लिया? मेरा ब्रीफकेस किसके पास है? हर बीतते पल के साथ बदहवासी और हड़बड़ाहट बढ़ती जाती। परिवार का नियम था, घर छोड़ने से पहले रसोई को साफ-सुथरा छोड़ना। कभी-कभी तो आपको अपना खाना तवे से सीधा झपटना पड़ता, इससे पहले कि वह बिल्ले के कटोरे की नज़र हो जाए और फिर तवा सू-सू करता हुआ पानी में जा डूबे। परिवार के चारों सदस्य जूठी प्लेटों और खाने के पैकिट थामे लगातार टहल रहे होते, एक-दूसरे से टकराते और बड़बड़ाते 'आज फिर देर हो ही गई', 'फिर से देर हो ही गई', 'इस हफ्ते में तीसरी बार।'

लेकिन उस परिवार में एक पांचवां सदस्य भी था। उसे कभी भी जल्दबाज़ी न होती; और जो इस भगदड़ की अनदेखी करता। वह रेडिएटर के ऊपर वाले माले पर लेटा रहता, आंखें मूंदे। उसके ज़िंदा होने का एकमात्र प्रमाण कभी-कभार की जम्हाई होती। खुले मुंह से गुलाबी जीभ झांकती और जब वह वापस आंख बंद करता तो एक आरामदेह सिहरन उसकी गर्दन से पैरों तक दौड़ जाती। विलियम बिल्ले का दिन शुरू हो रहा था।

अपना थैला झपटकर भागने से पहले जब पीटर मुड़कर घर पर आखरी नज़र डालता तो उसकी निगाह हमेशा विलियम पर जा ठहरती। एक पांव पर टिका सिर, दूसरा पांव बेपरवाह-सा आले के किनारे झूलता रहता – बढ़ती गर्माहट के मज़े लेता। यह इन विचित्र इंसानों के जाने का वक्त है, अब बिल्ला कुछ सुकून से सोएगा। बाहर उत्तरी बर्फीली हवाओं के थपेड़े पड़ते ही पीटर को सुकून से ऊंघते बिल्ले की याद बहुत विचलित करती।

अगर आपको परिवार के सदस्यों में एक बिल्ले का शुमार होना अजीब लगता है तो आपकी जानकारी के लिए बता दें कि विलियम की उम्र पीटर और उसकी बहन केट दोनों की उम्र से ज़्यादा है। वह उनकी मां को

स्कूल के ज़माने से जानता था। इसके बाद वह उनके साथ विश्वविद्यालय जाता था और पांच साल बाद वह उसकी शादी में भी मौजूद था। पहले बच्चे के समय जब वायोला फॉर्च्युन कभी-कभी दोपहर के समय बिस्तर पर आराम कर रही होती तो विलियम उसके उभरे हुए पेट (यानी पीटर) पर पसर जाता। पीटर और केट दोनों के जन्म के समय कई दिनों तक वह घर से गायब हो गया था। कहां और क्यों – कोई नहीं जानता। उसने परिवार की खुशियों और गमों को चुपके-चुपके देखा है। उसने नवजात शिशुओं को घुटनों के बल रेंगते बच्चों में बदलते देखा है, जो फिर उसे कानों से पकड़कर उठाने की कोशिश करते हैं; और बाद में वही बच्चे बड़े होकर स्कूल जाने लगे हैं। वह पीटर के माता-पिता को तब से जानती है जब वे एक कमरे में

चित्र: उदय प्रकाश

रहने वाले युवा दम्पति थे। अब वे तीन कमरों के घर में रहते हैं और पहले जैसे स्वच्छंद नहीं रहे। विलियम भी अब वैसा युवा जंगली नहीं रहा। वह अब चूहों और चिड़ियों को अकृतज्ञ इंसानों के चरणों में नहीं ला पटकता। अपने चौदहवें जन्मदिन के तत्काल बाद उसने लड़ना-झगड़ना भी छोड़ दिया, और न ही वह अब अपने इलाके की सुरक्षा करता है। पीटर को यह बहुत ही बुरा लगता कि पड़ोसी का जवान बिल्ला टॉम बगीचे पर अपना अधिकार जमाए जा रहा है। वह जानता है कि बूढ़ा विलियम कुछ नहीं कर पाएगा। कभी-कभी टॉम रसोई में रखा विलियम का खाना तक आकर खा जाता है और विलियम असहाय-सा देखता रहता है। कुछ साल पहले तक किसी बिल्ली की लॉन पर पांव धरने की हिम्मत तक न होती थी।

अपनी सत्ता खोने का विलियम को ज़रूर दुख हुआ होगा। उसने दूसरी बिल्लियों का साथ छोड़ दिया और अपनी यादों, स्मृतियों के साथ अकेला घर पर बैठा रहता। लेकिन सत्रह साल का होने के बावजूद उसने अपने आप को छरहरा बनाए रखा था। वह था तो काला लेकिन पांव, छाती और पूंछ की नोक पर सफेद रंग के छींटे थे। कभी-कभी वह क्षण भर सोचने के बाद आपकी गोद में छलांग लगा देता। पैरों को फैला कर वह वहां खड़ा हो जाता, और बिना पलकें झपकाए आपकी आंखों की गहराइयों में झांकता। इसके बाद घूरना बरकार रखते हुए वह अपना सिर थोड़ा तानते हुए बोलता – म्याऊं। और आप समझ जाते कि वो आपको कुछ ज़रूरी और अच्छी बात बता रहा है – कुछ ऐसी बात जिसे आप कभी नहीं समझ पाएंगे।

सर्दियों की दोपहर स्कूल से आने के बाद, अपने जूते फेंक जलती सिगडी के पास, विलियम से सटकर लेटने से ज़्यादा सुखकर पीटर के लिए और कुछ न था। उसको विलियम के एकदम करीब जाकर उसे निहारना, उस असाधारण सुंदरता को देखना बहुत भाता। झबरे बालों के पीछे के उस नन्हें-से चेहरे की गोलाई पर उग आए काले बाल, हल्की-सी गोलाई में नीचे की ओर घुसी सफेद मूंछें, रेडियो के एंटीना सरीखे भौहों के खड़े बाल और पीली-हरी सी आंखें – मानों यह अधखुला दरवाज़ा उस दुनिया में खुलता हो जहां पीटर कभी न जा पाएगा। बिल्ले के करीब जाते ही घुरघुराहट शुरू हो जाती, धीमी परन्तु सशक्त इतनी कि ज़मीन तक कांप जाती। पीटर का स्वागत करने का उसका तरीका था यह।

ऐसी ही एक शाम थी – मंगलवार, सायं के चार बजे। रोशनी कुछ मंद-

चित्र: उदय प्रकाश

सी पड़ गई थी। परदे खिंच गए थे और बत्ती जल चुकी थी। पीटर कालीन पर पसर गया। विलियम लपलपाती आग के सामने पहले से लेटा हुआ था। आग लकड़ी के मोटे गट्ठर की गोलाइयों को अपनी लपटों में समेटने की कोशिश में लगी थी। छत को बुहारती बर्फीली हवाओं की सिसकारी चिमनी से नीचे तक आ रही थी। खुद को गर्म रखने के लिए पीटर केट के साथ, बस स्टॉप से भागता आया था। अब वह अपने उस पुराने दोस्त के साथ घर में सुरक्षित था, जो अपने आप को जवां साबित करने की कोशिश में अपनी पीठ के बल लोट लगा रहा था। और अपने अगले पांवों को बेचारगी में हिला रहा था। मतलब साफ था। जनाब सीने पर हाथ फिराना चाहते थे। पीटर ने जैसे ही उसके बालों पर उंगलियां फिराना शुरू किया, घुरघुराहट बढ़ती गई। इतनी...इतनी बढ़ी कि उस बूढ़े जिस्म की एक-एक कपकंपाने लगी। और फिर विलियम अपना एक पैर पीटर की उंगलियों तक ले गया और उसे ऊपर उठाने की कोशिश की। पीटर ने अपने हाथ को बिल्ले के भरोसे छोड़ दिया। "क्या तुम चाहोगे कि मैं तुम्हारी ठुड्डी को सहलाऊं?" वह बुदबुदाया। लेकिन नहीं। बिल्ली की मंशा ठुड्डी नहीं बल्कि

गले के निचले हिस्से को सहलवाने की थी। पीटर को वहां कुछ सख्त-सी चीज़ महसूस हुई। छूने पर वह हिलने लगी। कोई चीज़ है जो इसके झबरे बालों में कैद हो गई है। पीटर अपनी कोहनियों के सहारे उठ बैठा – माजरा क्या है पता लगाया जाए। रोएं अलग करने पर पहली नज़र में उसे लगा ज्यों गहने का कोई हिस्सा हो, एक छोटा-सा चांदी का छल्ला हो; परन्तु जैसे ही उसने ध्यान से भीतर झांका तो पाया कि वो धातु न थी बल्कि एक चमकता हुआ अंडाकार व बीच से चपटा हड्डी का टुकड़ा था। और सबसे आश्चर्यजनक बात यह कि वह विलियम की चमड़ी से चिपका हुआ था। पीटर ने इस टुकड़े पर अपनी पकड़ मज़बूत की और उसे एक झटके से खींच दिया। बिल्ले विलियम की घुरघुराहट और तेज़ हो गई। पीटर ने एक बार फिर नीचे की ओर खींचा... हां, इस बार कुछ हुआ-सा महसूस हुआ।

उंगलियों के पोरो से उसने बिल्ले के फर को हटाने पर देखा कि वहां उसकी चमड़ी पर एक बारीक-सी दरार थी। उसे ऐसा लगा ज्यों वह कोई चेन खोल रहा हो। उसने फिर से खींचा तो अब वहां कोई दो इंच लम्बी काली दरार बन गई। विलियम की घुरघुराहट का यही स्रोत था। पीटर को लगा कि शायद वह उसके दिल की धड़कनों को देख पाएगा। बिल्ला फिर से अपने पांव से उसकी उंगलियों को धीरे-धीरे सहलाने लगा। यानी वह चाहता था कि उंगलियां चलती रहें।

और उसने ऐसा ही किया। उसने बिल्ली को गले से पूंछ तक पूरी तरह से खोल दिया। वह चमड़ी को अलग कर उसमें झांकना चाहता था, लेकिन वह ज़्यादा ताक-झांक भी नहीं करना चाहता था। .... वह केट को बुलाने ही वाला था कि एक हरकत हुई। बिल्ले के बदन में सरसराहट हुई और उसके झबरे बालों में छिपी दरार से हल्की गुलाबी रोशनी-सी निकली जो तेज़, और तेज़ होती गई।

और अचानक विलियम बिल्ले में से कोई शै, कोई जीव-सा निकला। पीटर निश्चित नहीं कर पा रहा था कि उसे छुआ जा सकता है या नहीं क्योंकि वह पूरी-की-पूरी शै रोशनी की सी बनी हुई थी। और मज़ेदार यह कि वहां न मूंछें थीं न पूंछ, न घुरघुराहट और न ही झबरी खाल, न चार टांगें ही थीं; फिर भी उसका रोम-रोम यही कह रहा था कि वह बिल्ला ही है। उस बिल्ले में से निकल रही थी एक गुलाबी और जामुनी से रंग की फीकी मोहक-सी रोशनी।

'तुम विलियम की आत्मा हो या फिर कोई भूत हो' पीटर ज़ोर से बोला। रोशनी में से कोई आवाज़ तो न आई लेकिन वह सवाल के आशय को समझ

ज़रूर गई। बिना कोई शब्द बोले लगा मानो वह बोल रही हो कि वह दोनों ही है। और शायद उससे भी कहीं ज़्यादा।

अंगार के आगे कालीन पर पीठ के बल लेटे बिल्ले से मुक्त होते ही, बिल्ले की आत्मा हवा में लहराती पीटर के कंधों तक पहुंची और वहां आकर टिक गई। पीटर डरा नहीं। उसे उसकी चमक अपने गालों पर महसूस हुई और फिर उसके सिर के पीछे से होती हुई वह नज़र से ओझल हो गई। उसे महसूस हुआ ज्यों उसने पीटर की गर्दन को छुआ और उसकी रीढ़ में एक कंपकंपी-सी दौड़ गई। बिल्ले की आत्मा ने उसकी रीढ़ की हड्डी के ऊपरी सिरे पर कुछ घुंडीदार चीज़ को पकड़ा और उसे नीचे की ओर खींच दिया, एक दम नीचे तक। और जैसे ही पीटर का खुद का शरीर खुला तो उसे बाहर की ठंडी हवा अंदर की गर्माहट को गुदगुदाती हुई-सी महसूस हुई।

बहुत ही विचित्र अहसास था। अपने खुद के शरीर से बाहर निकल जाना और उतरी हुई कमीज़ की तरह उसे कालीन पर पड़े रहने देना। पीटर ने अपने में से निकली चमक को देखा, जामुनी और सफेद रोशनी। दोनों आत्माएं एक दूसरे के आमने-सामने कुछ देर हवा में डोलती रहीं। और फिर अचानक पीटर जान गया कि वह क्या करना चाहता है, क्या करना चाहिए। वह विलियम की तरफ तैरता हुआ पहुंचा,और वहां जाकर उस पर मंडराने लगा। विलियम का शरीर दरवाज़े की तरह खुला था, निमंत्रित करता, स्वागत करता। वह नीचे झुका और भीतर चला गया। कितना बढ़िया था बिल्ले के तरह के कपड़े पहनना। अंदर की हालत बिल्कुल भी वैसी लिजलिजी नहीं थी जैसा कि उसे अंदेशा था। अंदर सूखा और गर्म माहौल था। वह पीठ के बल लेटा और अपने हाथ बिल्ले की अगली टांगों में घुसा दिए, और अपनी टांगें बिल्ले की पिछली टांगों में डाल दी। उसका सिर पूरी तरह से बिल्ले के सिर में फिट हो गया था। उसने मुड़कर देखा और अपने शरीर में बिल्ले की आत्मा को गुम होते पाया। पंजों से पीटर ने अपनी चेन बंद की। फिर वह खड़ा हुआ और कुछ कदम चलकर देखा। सफेद, मुलायम से चार पैरों पर चलने का क्या आनंद है! उसे अपने चेहरे के दोनों ओर तनी मूंछें और पीछे घुमी हुई पूंछ का भी अहसास हो रहा था। उसके कदम एकदम हल्के-फुल्के लग रहे थे, और उसके रोएं पुराने गर्म स्वेटरों में से सबसे आरामदायक स्वेटर-सा अहसास दे रहे थे। बिल्ला बन जाने की वजह से उसकी खुशी इतनी बढ़ी कि उसका दिल फूलकर कुप्पा हो गया, और उसके गले के अंदर झुनझुनी-सी इतनी तेज़ हो गई कि वह खुद उसे सुन पा रहा था। पीटर

बिल्ला घुर्रा रहा था और विलियम लड़का वहां बैठा था। वह लड़का उठा, उसने अंगड़ाई ली और फिर अपने पांव के पास बैठे बिल्ले से एक शब्द भी कहे बगैर कमरे से बाहर चला गया।

पीटर ने अपने पुराने शरीर को रसोई से कहते सुना, "मां, भूख लगी है, रात खाने में क्या है?"

⩤⩤⩤

उस रात पीटर बहुत बेचैन और उत्तेजित रहा। 10 बजे के करीब वह घर से बाहर निकल गया। बाहर की बर्फीली हवा भी उसकी मोटी रोएंदार चमड़ी को पार नहीं कर सकती थी। वह बगीचे की दीवार की तरफ बेआवाज़ बढ़ा।

दीवार ऊंची थी लेकिन एक आसान, नज़ाकत भरी छलांग ने उसे ऊपर पहुंचा दिया और वह अपने इलाके का सर्वे करने लगा। अंधेरे कोनों को देख पाना, अंधेरी रातों की हवाओं की हर सिरहन को अपनी मूंछों पर अनुभव करना कितना अद्भुत है। इतना ही नहीं जब एक लोमड़ी बगीचे के रास्ते कचरे के डिब्बों को खंगालने आई तो ऐसे में खुद को अदृश्य कर लेना भी कम मज़ेदार नहीं था। उसे आसपास की दूसरी बिल्लियों की भी अनुभूति हो रही थी – कुछ उसी इलाके की थीं और कुछ दूर-दराज़ से आई थीं। वे सब अपने-अपने इलाकों में अपने जाने-पहचाने रास्तों पर विचरती हुई, अपने-अपने रात्रिकालीन काम निपटा रही थीं। लोमड़ी के बाद एक छोटे-से धारीदार भूरे बिल्ले ने बगीचे में घुसने की कोशिश की। पीटर ने अपनी घुरघुराहट और पूंछ के झटके से उसे धमका दिया। शिशु बिल्ले को अचरज में चिल्लाते और भागते देख वह संतोष से घुरघुराने लगा।

उसके तुरंत बाद ग्रीन हाऊस की ऊंची दीवार पर गश्त के दौरान उसका एक दूसरे बिल्ले से आमना-सामना हुआ। एक ज़्यादा खतरनाक घुसपैठिया – इतना काला था कि पीटर को पहले तो वह नज़र न आया। वह पड़ोसी टॉम था – हट्टा-कट्टा। पीटर से लगभग दोगुना आकार, मोटी गर्दन और मज़बूत टांगें। बिना सोचे पीटर ने अपनी पीठ को ऊपर की ओर धनुष की तरह तान लिया और अपने रोओं को खड़ा कर दिया ताकि वह कुछ और बड़ा दिखने लगे।

"ऐ बिल्ले, यह मेरी दीवार है जिस पर तुम सवार हो" पीटर फुफकारा। काला बिल्ला कुछ चकराया फिर मुस्कुरा कर बोला, "दादाजी यह कभी तुम्हारी दीवार रही होगी। अब तुम इसका क्या करने वाले हो?"

"भाग जाओ, उससे पहले कि मैं तुम्हें उठाकर फैंक दूं" पीटर अचंभित

था कि उसे बिल्ले का यह अतिक्रमण कितना चुभ गया था। यह उसकी दीवार थी, उसका बगीचा और दुश्मन बिल्लियों को दूर रखना उसका काम।

काला बिल्ला फिर से मुस्कुरा कर बोला, "देखिए दादाजी, लम्बे समय से यह तुम्हारी दीवार नहीं रही है। मैं ही इस पर आता-जाता रहा हूं। अब रस्ता साफ करो वरना चीरकर रख दूंगा।"

"भाग, पिस्सु कहीं के। एक कदम तो और बढ़ा, मैं तेरी मूछों को तेरी गर्दन पर लपेट न दूं तो कहना।"

काले बिल्ले ने तिरस्कार भरा एक अट्टहास लगाया लेकिन आगे कदम नहीं बढ़ाया। चारों ओर आसपास की बिल्लियां अंधेरे में झांकने लगी थीं। पीटर को 'लड़ाई, लड़ाई' की आवाज़ें सुनाई दीं। "बुढ्ढा सरक गया लगता है। और ज़्यादा नहीं तो सत्रह साल का तो होगा ही।"

काले बिल्ले ने अपनी मज़बूत रीढ़ की हड्डी को ऊपर की ओर घुमाया और फिर ज़ोर से हुंकारा।

पीटर ने अपनी आवाज़ को शांत बनाए रखने की कोशिश की लेकिन फुफकारते से शब्द निकले, "तुम मुझसे पूछे बगैर उस रास्ते का इस्तेमाल नहीं करोगे।"

काले बिल्ले ने पलकें झपकाईं। चीत्कार भरी हंसी से उसकी मोटी गर्दन की मांसपेशियों में लहर-सी दौड़ गई – यह युद्ध उद्घोष भी था।

सामने वाली दीवार पर जमा होते हुजूम में उत्तेजना दौड़ गई।

"बूढ़ा बिल्ला सरक गया है।"

"उसने लड़ाई के लिए गलत बिल्ला चुन लिया है।"

"ओह बिना दांत के बूढे भेड़, मैं यहां का बिल्ला नं.1 हूं। क्या यह सही नहीं है।" काले बिल्ले की फुफकार पीटर से ज़्यादा पैनी थी।

काले बिल्ले ने अपनी बात को जारी रखा, "मेरी सलाह है पीछे हट जाओ वरना तुम्हारी अंतड़ियों को पूरे बगीचे में बिखरा दूंगा।"

पीटर जानता था कि अब वापसी का कोई रास्ता नहीं है। उसने अपना पंजा आगे बढ़ाया ताकि वह दीवार को मज़बूती से पकड़ सके और फिर बोला, "ए सूजे हुए चूहे! तुम्हें सुनाई दे रहा है...... यह मेरी दीवार है और तुम एक बीमार कुत्ते की लेंडी से ज़्यादा कुछ नहीं हो।" काले बिल्ले को झटका-सा लगा। भीड़ में दबी-दबी सी हंसी फैल गई। पीटर तो कितना मृदुभाषी लड़का था। परन्तु अब इस तरह की गाली-गलौच में उसे कितना मज़ा आ रहा था।

काले बिल्ले ने चेताया और एक कदम आगे बढ़ाया, "बच्चू तुम चिड़ियों का नाश्ता बन जाओगे।" पीटर ने एक गहरी सांस ली। बूढ़े विलियम की

खातिर उसे जीतना ही है। वह सोच ही रहा था कि काले बिल्ले का पंजा सटाक से उसके चेहरे की तरफ उछला। पीटर के पास एक बूढ़ी बिल्ली का शरीर ज़रूर था लेकिन साथ ही एक युवा लड़के का दिमाग भी था। पीटर एकदम से झुका और उस झपट्टे की आवाज़ को उसने कान के बिल्कुल करीब से गुज़रते हुए सुना। वह एकदम से मुड़ा और उसने कल्लू को एक पल के लिए तीन टांगों पर खड़े देखा। बिना देर किए वह कूदा और अपने अगले दोनों पांवों से उस के सीने पर धक्का दिया। अक्सर बिल्लियां ऐसा नहीं करती हैं। बिल्ला नं.1 हैरान था। अचरज में चीखता हुआ वह फिसला और पीछे की ओर लड़खड़ाते हुए ग्रीनहाऊस की छत से नीचे जा गिरा। उसका सिर पहले नीचे टकराया। टूटे कांच की संगीतमय खनखनाहट और टूटे गुलदानों की खड़खड़ाहट ने बर्फीली रात की चुप्पी को अंग-भंग कर दिया। फिर शांति, चुप्पी। निस्तब्ध हुजूम ने नीचे ताकना-झांकना शुरू कर दिया। सरसराहट और फिर एक कराह सुनाई दी। और फिर रात के अंधेरे में एक काले बिल्ले का लड़खड़ाता साया लॉन पार करता दिखाई दिया। उसकी बुदबुदाहट भी सुनाई दी, "यह ठीक नहीं है। पंजे और दांत तक तो ठीक है पर इस तरह धक्का देना कतई उचित नहीं।"

पीटर चिल्लाया, "अगली बार इजाज़त लेकर आना समझे।"

काला बिल्ला कुछ बोला नहीं लेकिन उसके पीछे हटते कदम और लंगड़ाती छवि ने साफ कर दिया कि सब समझ आ गया है।

अगली सुबह पीटर रेडिएटर के ऊपर के आले में लेटा था। एक पांव को सिरहाना बनाए और दूसरा हवा में झूलता हुआ। उसके आसपास भगदड़ थी, अस्तव्यस्तता थी। केट को अपना झोला नहीं मिल रहा था। दलिया जल चुका था। मिस्टर फॉर्च्यून का माथा चकरा गया था क्योंकि कॉफी पाउडर खत्म हो चुका था और दिन शुरू करने के लिए उसे कम-से-कम स्ट्रांग काफी के तीन कप तो चाहिए ही थे। रसोई में सब गड़बड़-सड़बड़ था और इस सब पर जले दलिये की गंध फैली हुई थी। देर बहुत देर हो चुकी थी। पीटर ने अपनी पूंछ को पिछली टांगों पर लपेटा और अपनी घुरघुराहट को धीमा रखने की कोशिश की। कमरे में दूसरी ओर उसका पुराना शरीर था, जिसमें था विलियम बिल्ला। और उस शरीर को स्कूल जाना था। विलियम चकराया-सा लग रहा था। कोट पहन वह स्कूल जाने को तैयार था लेकिन उसने केवल एक जूता पहना था। दूसरा कहीं

गुमशुदा था। वह कमज़ोर कांपती आवाज़ में बोलता जा रहा था, "मेरा जूता कहां है? लेकिन श्रीमती फॉर्च्युन तो किसी से फोन पर बहस करने में मशगूल थी।

पीटर बिल्ले की आंखें अधखुली थीं। जीत ने उसे बेहद थका दिया था। जल्द ही पूरा कुनबा गायब हो जाएगा और शांति कायम हो जाएगी। रेडिएटर के ठण्डा हो जाने पर वह ऊपर जाकर सबसे सुविधाजनक बिस्तर ढूंढेगा। पुराने दिनों की खातिर वह अपना खुद का बिस्तर चुनेगा।

दिन उसकी उम्मीद के मुताबिक बीता। ऊंघते, कटोरे के दूध का चटखारा लेते, फिर से ऊंधते, बिल्ली का डिब्बा बंद खाना खाते। खाने की गंध जैसी थी उसके मुकाबिले उसका स्वाद कहीं बेहतर था।

उसके बाद फिर नींद। उसे पता ही न चला कब अंधेरा होने लगा और कब बच्चे स्कूल से वापस आ गए। विलियम स्कूल और खेल के मैदान की जद्दोजहद से थका हारा घर पहुंचा। 'बिल्ला-लड़का' और 'लड़का-बिल्ला' दोनों जलते अंगारों के पास लेट गए। अजीब नज़ारा था। वो सोचने लगा कि क्या विलियम-लड़का स्कूल, बस, मां, पिता, बहन वाली इस नई ज़िन्दगी में खुश है? लड़के के चेहरे से पीटर बिल्ले को कुछ न पता चला। वह चेहरा इतना बाल-रहित, मूंछों-रहित व गुलाबी था और आंखें इतनी गोल थीं कि यह जानना असंभव था कि वे क्या कह रही हैं।

देर शाम पीटर टहलता हुआ केट के कमरे तक पहुंचा। हर बार की तरह वह गुड्डियों से बात कर रही थी और उन्हें भूगोल का पाठ पढ़ा रही थी। गुड्डियों के चेहरे से यह साफ था कि विश्व की सबसे लम्बी नदी में उनकी कोई रुचि नहीं है। पीटर के उसकी गोद में कूदते ही वह अनजाने ही उस पर हाथ फेरने लगी – बातें करना जारी रहा। काश, उसे पता होता कि उसकी गोद में बैठा जीव दरअसल उसका भाई ही है। पीटर बैठा-बैठा घुरघुराता रहा। केट उन राजधानियों के नामों की सूची बनाना शुरू करने ही वाली थी जिन्हें वह जानती है। यह इतना बोझिल था कि उसकी आंखें मूंदी ही थीं कि तभी ज़ोर से दरवाज़ा खुला और विलियम-लड़का वहां अवतरित हुआ।

"हेलो पीटर, तुमने दरवाज़े पर दस्तक नहीं दी।" केट बोली।

लेकिन उसके भाई ने कोई ध्यान न दिया। उसने कमरा पार किया, केट के पास लेटे बिल्ले को उजड्ड ढंग से उठाया और जल्दी से बाहर निकल आया। बिल्ले पीटर को यह नागवार गुज़रा। इस उम्र के बिल्ले को इस तरह

से उठाया जाना अशोभनीय था। उसने छूटने की कोशिश की लेकिन लड़के ने अपनी पकड़ और मज़बूत कर ली और जल्दी से सीढ़ियां उतरने लगा। "श्शशश। हमारे पास वक्त नहीं है" वह बोला।

विलियम 'पीटर बिल्ले' को लेकर नीचे के कमरे में गया और वहां उसे छोड़ दिया।

"हिलो मत। वही करो जो मैं कहता हूं। अपनी पीठ के बल लेट जाओ।"

पीटर बिल्ले के पास चुनाव की गुंजाइश न थी क्योंकि लड़के ने उसे एक हाथ से जकड़ रखा था तथा दूसरे हाथ से उसके बालों में कुछ ढूंढ रहा था। उसके हाथ चमकीली हड्डी का एक टुकड़ा लगा और उसने उसे नीचे की ओर खींच लिया। पीटर ने अपने भीतर ठंडी हवा के झोंके को महसूस किया, और वह बिल्ले के शरीर से निकल आया। लड़का भी अपनी ही गर्दन के पीछे ऐसी हड्डी ढूंढकर अपनी चेन खोल रहा था। इसके बाद लड़के के शरीर से असली बिल्ले की गुलाबी-जामुनी रोशनी निकली। एक पल के लिए दोनों आत्माएं – बिल्ले और इंसान की आत्माएं, एक-दूसरे के आमने-सामने तैरती रहीं। नीचे कालीन पर उन के शरीर लेटे थे – इंतज़ार में वैसे ही जैसे टैक्सी अपनी सवारी को ले जाने के इंतज़ार में खड़ी रहती है। हवा में एक उदासी का अहसास था।

हालांकि बिल्ले की आत्मा बोली नहीं लेकिन पीटर ने भांप लिया कि वह कह रही थी कि "मुझे लौटना चाहिए। मुझे अभी एक और रोमांचक काम करना है। मुझे लड़का बनने का मौका देने के लिए धन्यवाद। मैंने बहुत कुछ सीखा जो आने वाले समय में मेरे लिए उपयोगी होगा। और मेरे लिए आखरी लड़ाई लड़ने के लिए धन्यवाद।"

पीटर कुछ कहने ही जा रहा था लेकिन बिल्ले की आत्मा अपने जिस्म में वापस जा रही थी।

बिल्ले में घुसती गुलाबी-जामुनी रोशनी बोलती-सी महसूस हुई "वक्त बहुत कम है।"

पीटर अपने शरीर की ओर बढ़ा और रीढ़ की हड्डी के ऊपरी हिस्से से अंदर की ओर खिसक गया।

शुरू-शुरू में उसे कुछ अजीब-सा लगा। इस शरीर में वह फिट नहीं हो पा रहा था। जब वह खड़ा हुआ तो वह लड़खड़ा रहा था। यह चार साइज़ बड़े रबर के जूते पहनने जैसा था। शायद इस्तेमाल न होने के दौरान उसका शरीर पहले से बड़ा हो गया हो। उसे पल भर के लिए लेट जाना ज़्यादा ठीक लगा। उसके ऐसा करते ही विलियम बिल्ला मुड़ा और धीमे-धीमे, और अकड़ता हुआ कमरे से

चित्र:

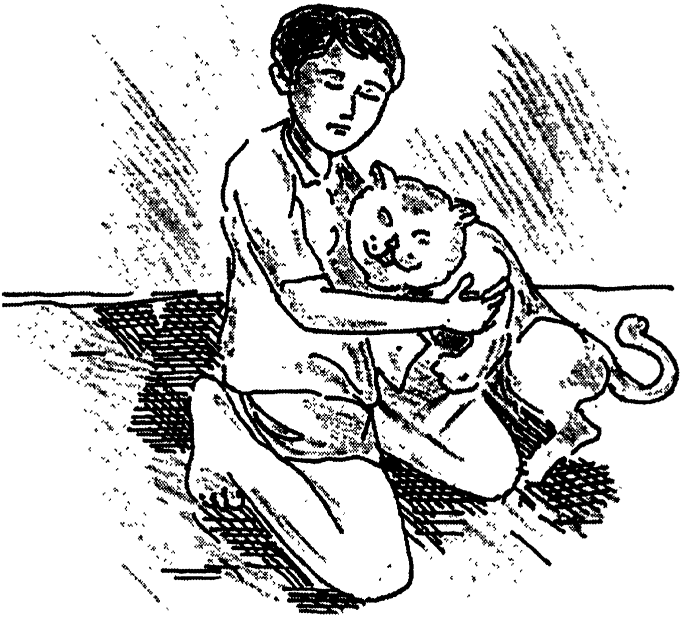

निकल गया। उसकी ओर एक नज़र डाले बगैर।

लेटे-लेटे अपने पुराने शरीर से तालमेल बैठाते वक्त पीटर ने एक अजीब चीज़ देखी। आग अब तक उस लकड़ी के लट्ठे को लपेटे थी। उसने बाहर देखा। अंधेरा बढ़ रहा था। शाम होने को थी, पास पड़ा अखबार बता रहा था कि अभी भी मंगलवार है। एक और अजीब चीज़। उसकी बहन केट रोते-रोते कमरे में घुसी आ रही थी। पीछे-पीछे उसके माता-पिता थे। उनके चेहरे भी लटके हुए थे।

"भाई, बहुत ही बुरा हुआ।" केट रोते-रोते बोली।

"मुझे अफसोस है विलियम बिल्ला..." मां बोली।

"हाय! विलियम" केट ने बिलखते हुए मां के शब्दों को काट दिया।

"वह रसोई में घुसा, रेडिएटर के ऊपर अपनी पसंदीदा आले पर चढ़ा, आंखे मूंदी और चल बसा।" उसके पिता ने जोड़ा।

केट का रोना जारी था। पीटर ने देखा कि सभी उसकी प्रतिक्रिया जानने को उत्सुक थे। परिवार में वही बिल्ले

के सबसे करीब था।

"वह सत्रह बरस का था। अच्छी पारी खेली।" थॉमस फॉर्च्युन बोले।

"उसने अच्छा जीवन जिया।" मां बोली। पीटर धीरे से खड़ा हुआ। दो टांगें अपर्याप्त-सी लगीं।

"हां, अब वह एक दूसरे रोमांच में लगा है।" अंततः पीटर बोला।

अगली सुबह बगीचे में विलियम को दफना दिया गया। पीटर ने लकड़ियों से क्रॉस बनाया और केट ने जयपत्र की पत्तियों और टहनियों से माला बनाई। हालांकि स्कूल और काम पर जाने में देरी हो रही थी लेकिन पूरा परिवार एक साथ उसकी कब्र तक गया। बच्चों ने मिट्टी का आखरी बेलचा डाला। तभी अंदर से गुलाबी-जामुनी रोशनी की एक चमकती गेंद हवा में तैर गई।

"देखो।" पीटर ने इशारा किया।

"क्या?"

"वह ठीक तुम्हारे सामने।"

"पीटर तुम किसके बारे में बोल रहे हो?"

"वह फिर सपने देखने लगा है।"

रोशनी ऊपर, और ऊपर उठती गई जब तक कि वह पीटर के सिर तक न पहुंच गई। वह कुछ बोली नहीं। बोलना असंभव भी होता, लेकिन पीटर ने सब कुछ सुन लिया।

"अलविदा पीटर" गुम होती रोशनी ने कहा, "अलविदा, और एक बार फिर शुक्रिया।"

मूल लेखक: इयान मेक इवान: अंग्रेज़ी साहित्य में अपनी कहानियों के लिए जाने जाते हैं। कुछ उपन्यास भी लिखे हैं।

अनुवाद: शशि सबलोक: एकलव्य के प्रकाशन कार्यक्रम मे संबद्ध। अनुवाद में रुचि।

यह कहानी 'डे ड्रीमर' किताब से साभार। प्रकाशक: विन्टेज पब्लिशर्स, लंदन।

चित्र: उदय प्रकाश: स्वतंत्र रूप से चित्रकारी करते हैं। भोपाल में रहते हैं।

सिर्फ संदर्भ के सदस्यों के लिए

स्रोत

सामान्य वार्षिक चंदा 150 रुपए

संदर्भ के ग्राहकों के लिए 125 रुपए

चंदा मनीऑर्डर या एकलव्य के नाम बने ड्राफ्ट से भेजें। साथ में संदर्भ की ग्राहक संख्या का उल्लेख ज़रूर करें।

सम्पर्क कीजिए

एकलव्य: ई-7/453 एच. आई. जी. अरेरा कॉलोनी, भोपाल, म. प्र. 462016

जब मौत भी शर्मा जाए

महेश बसेड़िए

प्रकृति में जीव-जंतु अपने दुश्मनों से बचाव के लिए तरह-तरह के तरीके अपनाते हैं। लेकिन हम जिस तरीके की बात कर रहे हैं, उसे पढ़कर हो सकता आपको भी हंसी आ जाए – मरने का ढोंग करना।

जी, हां। यहां ज़िक्र हो रहा है ऐसे ही कुछ जीवों का। इनमें से एक है अमेरिका महाद्वीप में पाया जाने वाला ओपोसम (opossum)। कंगारू जैसी थैली वाला, छोटी बिल्ली के आकार का यह प्राणी पेड़ पर रहता है। खतरे की स्थिति में पड़ने पर ओपोसम आंखें मूंदकर एकदम निश्चल, बिना हिले-डुले पड़ा रहता है। यहां तक कि उसका दुश्मन उसे छूकर या धीरे से काटकर देख ले तब भी यह ऐसा ही पड़ा रहता है। इससे दुश्मन इसे मरा समझकर छोड़ देता है और ओपोसम मौका पाकर अपनी राह चल देता है।

अमेरिका महाद्वीप में पाया जाने वाला एक विषहीन सांप हॉगनोज़ भी इसी तरह का व्यवहार करता है। दो-तीन फीट लंबाई का ये सांप खतरे की स्थिति में पहले तो अपने सिर को ज़मीन से काफी ऊपर उठा लेता है। फिर अपने सिर को चपटा कर कोबरा के फन जैसा फैलाकर, फुफकार कर, डंसने की कोशिश करके अपने दुश्मन को डराता है। कोबरा के जैसा जीवंत अभिनय करने के बाद भी यदि हॉगनोज़ अपने दुश्मन को डरा पाने में असफल रहता है तो वो पैंतरा बदल लेता है। हॉगनोज़ तुरंत मरने का अभिनय करने लगता है। वह चित हो जाता है, अपना मुंह खोलकर ढीली-ढाली जीभ को बाहर लटका लेता है। यानी मरे हुए सांप के समान दिखाई देने लगता है। जाहिर है इस सांप का दुश्मन इसे मरा समझकर आगे चल देगा। हो सकता है कभी अभिनय में कुछ कमी रह जाए तो इसका खामियाज़ा भी भुगतना पड़ता होगा।

खैर, इतना तो तय है कि मौत का ये ढोंग देखकर कई बार मौत भी शर्मा जाती होगी।

महेश बसेड़िया: संदर्भ पत्रिका से संबद्ध।

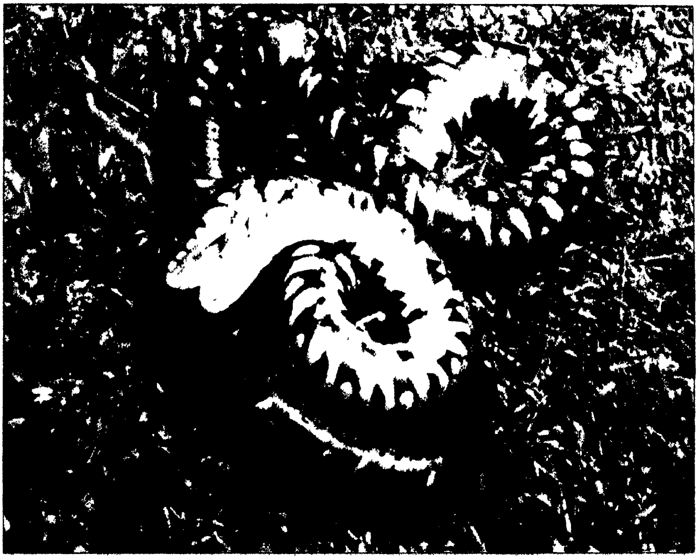

मरने का ढोंग - यूरोप के घसियाले मैदानों में पाया जाने वाला यह सांप, दुश्मन को डराने की कोशिश में नाकामयाब होने पर मरने का ढोंग करता है। इसका खुला मुंह, लटकी जीभ देखिए। नीचे - हॉगनोज़ सांप मुंह खोले हुए चित पड़ा हुआ है। अपने दुश्मन को बेवकूफ बना पाए इस उम्मीद में मौत का स्वांग रचाया है।

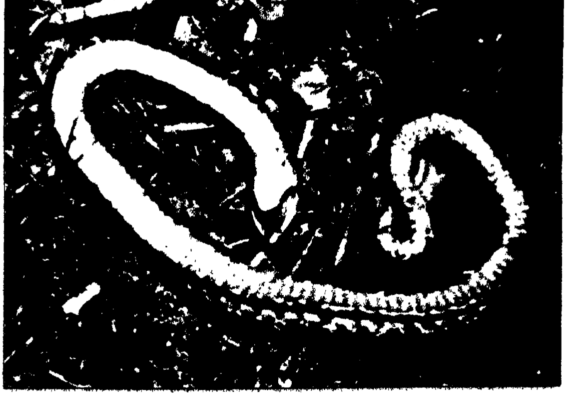

एकलव्य की ओर से राजेश खिंदरी द्वारा भंडारी ऑफसेट प्रिंटर्स, ई-3/12, अरेरा कॉलोनी, भोपाल से मुद्रित एवं

12754

Bharat Petroleum

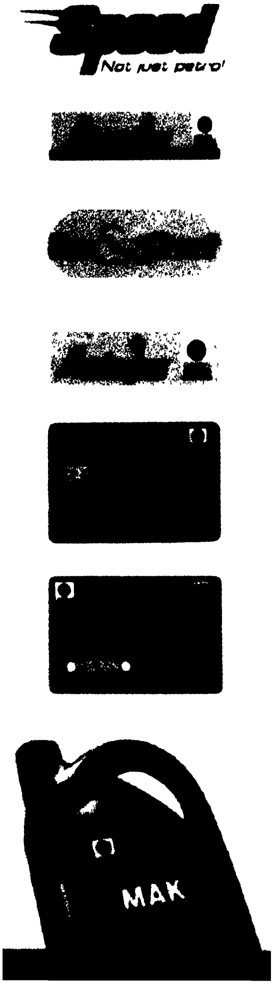

The result of innovative brand management, cutting edge technology and investment in our people.

The rewards?

Customers who are delighted.
Relationships built and sustained.
A work force that is result oriented.

As a Corporation, what next?

Innovating. Competing. Performing.
To deliver. To enhance stakeholder value.
To stay Ahead!

visit us at www.bharatpetroleum.com